—: सम्यक् ज्ञान–माला का द्वितीय रत्न :—

जवाहरकिरणावली ३२ वाँ भाग—

गृहस्थधर्म

(द्वितीय भाग)

व्याख्याता—

स्व० जैनाचार्य पू० श्री जवाहरलालजी महाराज

卐

सम्पादक—

पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक—

सम्यक् ज्ञान मंदिर

कलकत्ता

विषय सूची

प्रकाशकीय

जवाहर किरणावली की ३२ वीं किरण प्रकाशित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है। महामहिम स्व० पूज्य श्री जवाहराचार्य जैन समाज के महान् सन्त थे। उनकी ओजस्वी वाणी ने जन-जन के हृदय को उद्वेलित और प्रभावित किया था। उनके प्रभावजनक उपदेशों से सहस्रों व्यक्तियों का जीवन परिवर्तित हो गया था। लाखों को नयी प्रेरणा और नयी दिशा का ज्ञान हुआ था। उनके बहुमूल्य व्याख्यान 'जवाहरकिरणावली' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत प्रकाशन उसी शृंखला की एक कड़ी है।

इससे पूर्व प्रकाशित में सम्यग्दर्शन संबंधी व्याख्यान पहले प्रकाश में नहीं आये थे। बारह व्रत रतलाम मंडल की ओर से छोटी २ पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हुए थे। उन सब को एक ही साथ प्रकाशित करने की आवश्यकता थी। उनमें भापा सम्बन्धी संस्कार की भी आवश्यकता थी और पूज्य श्री के संगृहीत लिखित साहित्य के आधार पर कतिपय विपयों की वृद्धि की भी आवश्यकता थी। वह इस संस्करण में किया गया है। उदाहरणार्थ—पडावश्यक गृहस्थ-धर्म का एक अनिवार्य अंग है। उस पर पूज्य श्री ने अपने व्याख्यानों में हृदयग्राही विवेचन किया है। उसको गृहस्थधर्म में सम्मिलित किये बिना गृहस्थधर्म अपूर्ण ही रह जाता था। यह त्रुटि यहाँ पूरी कर दी गई है। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों में पूज्य श्री के कतिपय तेजपूर्ण विचार, जो पहले इनके साथ प्रकाशित नहीं हुए

र, यहाँ शामिल कर दिये गये हैं । आशा है, इस परिष्कार से पाठकों को विशेष लाभ होगा ।

श्री जवाहराचार्य के व्याख्यानों में हमें एक क्रान्ति का उद्घोष करने वाले क्रान्तिकारी, सुप्त समाज को जगाने वाले महान सुधारक उत्पीड़ितों एवं दुखों से व्याकुल जनसमूह को धैर्य और साहस बँधाने वाले सहायक तथा जन्म-मरण की पीड़ाओं से त्रस्त जगत को अमरत्व का संदेश देने वाले शान्तिदूत के दर्शन होते हैं ।

प्रस्तुत प्रकाशन का सम्पादन समाज के सुपरिचित साहित्यसेवी पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने किया है, जिससे प्रकाशन अधिक उपयोगी हो गया है ।

इस पुस्तक को प्रकाशित करने में श्री जैन जवाहर मित्र मंडल (ब्यावर) का बहुमूल्य हार्दिक सहयोग मिला है । अत: हम मंडल के अत्यन्त आभारी हैं ।

यदि समाज ने इस प्रकाशन का अधिक से अधिक स्वागत किया तो हमें भविष्य के लिए अधिक प्रेरणा और स्फूर्ति मिलेगी ।

सरदारमल कांकरिया,
मंत्री—
सम्यक् ज्ञानमन्दिर

८७, धर्मतल्लास्ट्रीट
कलकत्ता १३

दो शब्द ।

★

श्रीसम्यक् ज्ञान मंडल कलकत्ता की एक नवोदित संस्था है, जो सत्साहित्य के प्रसार और प्रचार के पुनीत ध्येय को समक्ष रखकर कार्यक्षेत्र में अवतरित हुई है। हम उसका हार्दिक अभिनन्दन करते है।

सम्यक् ज्ञानमंडल ने अभी-अभी 'पूर्ण स्वतंत्रता की राह' नाम से प्रातः स्मरणीय, परम प्रतापी, शास्त्रमहोदधि, तत्त्ववेत्ता, महाश्रमण दीर्घतपस्वी उपाचार्य पू० श्री श्री १००८ श्री गणेशीलालजी म० के प्रवचनों का संग्रह प्रकाशित किया है। तत्पश्चात् जैन समाज के सुपरिचित विचारक युगप्रधान दिवंगत पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के प्रवचनो का यह संग्रह पाठको के समक्ष उपस्थित किया जा रहा है। इन दोनो पुस्तकों के प्रकाशन मे 'गृहस्थधर्म' तीन जिल्दों में पूरा हो रहा है। पूज्य श्री के प्रवचन जीवन को ऊंचा उठाने वाले हैं। उनके पीछे गहरा चिन्तन और दीर्घकालीन अनुभव है। विशेपतया गृहस्थ-धर्म पर किये गये प्रवचन तो समाज के लिए अतिशय उपकारक हैं। गृहस्थजीवन को सफल और समुन्नत बनाने की कुंजी हैं। इन्हे गृहस्थ की आचारसंहिता कहना चाहिए। आज गृहस्थ वर्ग के आचार में जो विकृतियां आ गई हैं, उनको दूर करने मे यह प्रवचन खूब सहायक हो सकते हैं। आशा है पाठक इन प्रवचनो का अध्ययन, मनन करके इन्हें अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न करेंगे।

अन्त में सम्यक् ज्ञानमंडल के उत्साही मंत्री श्रीमान् सरदारमल जी सा० कांकरिया के प्रति हम कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं, जिनकी लगन और साहित्यप्रीति के फलरूप यह निधि इस रूप मे सर्व साधारण के समक्ष आ सकी है।

ब्यावर
ता० ६-६-५७

मंत्री:—
श्री जैन जवाहर मित्र मंडल
ब्यावर.

यत्किंचित्

जैनधर्म का प्रधान सन्देश है—परमात्मतत्त्व की उपलब्धि। और परमात्मतत्त्व की उपलब्धि का अर्थ है—आत्मा के समस्त बन्धनों को तोड़ फेंकना, अपने ही भीतर छिपे हुए अनन्त ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेना और इस प्रकार सम्पूर्ण सिद्धि का लाभ करना।

आत्मिक ऐश्वर्य या परमसिद्धि यद्यपि आत्मा के भीतर ही विद्यमान है, वह बाहर से नहीं लाई जाती, तथापि उसे प्रकट करने के लिए विकट साधना अपेक्षित होती है। उस साधना के, जैनशास्त्रों में, संक्षेप में दो रूप बतलाये गये हैं—ज्ञान और चारित्र।

साधना के स्वरूप, लक्ष्य और मार्ग को समझने के लिए सर्व-प्रथम ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान के अभाव में साधक आत्मा अगर साधना के लिए उद्यत हो जाता है तो भी वह गलत राह पर चल पड़ता है, और कभी-कभी ऐसा विपरीत मार्ग पकड़ लेता है कि वह अपनी साधना के लक्ष्य के सन्निकट पहुँचने के बदले अधिकाधिक दूर होता चला जाता है। उसकी [illegible] निरर्थक हो जाती [illegible] अतएव ज्ञान की साधना का प्रथम [illegible] शास्त्रकार कहते हैं—

साधना के लिए कमर कसकर खड़ा हुआ बेचारा अज्ञानी जीव क्या कर सकेगा ! और, वह कैसे समझ पायगा कि कल्याण क्या और अकल्याण क्या है ?

मगर स्मरण रखना चाहिए कि ज्ञान, साधना का एक अंग ही है, सम्पूर्ण साधना नहीं है। ज्ञान से साधना के स्वरूप को समझा जा सकता है, साधना का लक्ष्य स्थिर किया जा सकता है और मार्ग भी निश्चित किया जा सकता है पर यह तो साधना का प्रारम्भ है, उसकी समाप्ति नहीं है। साधना को परिपूर्ण और सफल बनाने के लिए क्रिया की आवश्यकता अनिवार्य है। क्रिया के विना जान लेने मात्र से कुछ हाथ नहीं आता। इसलिए कहा है—

क्रियाविरहितं हन्त ! ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥

अर्थात्—जिस ज्ञान के अनुसार अनुष्ठान नहीं किया जाता वह कोरा ज्ञान निरर्थक है—फलप्रद नहीं है। आप किसी नगर में पहुँचने का मार्ग जानते हैं, मगर चलते नहीं, उस ओर कदम बढ़ाते नहीं—क्रिया करते नहीं हैं तो केवल मार्ग जान लेने मात्र से उस नगर में नहीं पहुँच सकते।

इस प्रकार क्रिया, ज्ञान पर निर्भर है, मगर ज्ञान की सार्थकता क्रिया में है। इसी कारण शास्त्र स्पष्ट रूप से यह घोषणा करता है कि वही ज्ञान सफल और सार्थक है जो आचरण को जन्म देता है। नयविशेष की अपेक्षा तो जिस ज्ञान से चारित्र का उद्भव नहीं होता, वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है—अज्ञान है।

इससे सहज ही समझा जा सकता है कि जैनधर्म मे चारित्र को कितना अधिक महत्त्व दिया गया है। चारित्र की वदौलत ही साधु

साधु कहलाता है और श्रावक श्रावक कहलाता है। मगर आज की लोकरूढि कुछ भिन्न प्रकार की हो गई है। साधु तो आज भी सर्वविरति-सकल संयम-को अंगीकार करने वाला ही कहलाता है, परन्तु श्रावक बनने के लिए मानो कोई मर्यादा ही नहीं रह गई है। कोई श्रावक के मूल गुणों को चाहे अंगीकार न करे तो भी वह जैन कुल मे उत्पन्न होने मात्र से अपने आपको श्रावक पद का अधिकारी समझने लगता है। मगर सच्चा श्रावक तो वही कहला सकता है, जिसने गृहस्थ-धर्म को प्रतिज्ञा के रूप मे अंगीकार किया है। भगवान महावीर की यह उदारता थी कि उन्होंने श्रावक-श्राविका को भी संघ मे स्थान प्रदान किया, परन्तु उस संघ में वस्तुतः वही सम्मिलित माना जाना चाहिए जिसने सम्यक्त्व के साथ अणुव्रतों को धारण किया है।

जैनधर्मशास्त्र में साधुओ की तरह श्रावक के चारित्र का भी विवेचन किया गया है। परन्तु मूल आगम प्राकृत भाषा में है और उस भाषा को समझने वाले आज उंगलियो पर गिने जा सकते हैं। अतएव प्रत्येक गृहस्थ मूल आगमो मे अपने आचार को ठीक तरह समझ नहीं सकता। इसके अतिरिक्त आगम सूत्र रूप हैं और सूत्र रूप मे रचित आगमो से जैसा चाहिए, वैसा विशद बोध प्राप्त कर लेना सब के लिए सरल नहीं है। जिसने उनके अन्तस्तत्त्व को पहचाना है, वही भली भांति उसे समझ सकता है।

स्वर्गीय पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज ऐसे ही प्रतिभाशाली महापुरुषो में अग्रगण्य थे। उनकी प्रतिभा अनोखी और सर्वतोमुखी थी। उन्होंने अपने साधुजीवन में लम्बे समय तक प्रवचन किये। जब मैंने उन लिपिबद्ध किये गये प्रवचनो को देखा तो लगा कि यह अपूर्व निधि फाइलों में पड़ी पड़ी सड़ने को नहीं है। इसे दुनिया को लुटा देना चाहिए। सहयोग मिला और सम्पादन-कार्य आरम्भ हुआ। प्रारम्भ की तीन किरणें पूज्य श्री के जीवन काल में प्रकाशित हो

सकीं। पूज्य श्री देवलोक पधार गये, मगर सेठ चम्पालालजी सा० बांठिया के उत्साह से सम्पादन कार्य अग्रसर होता ही चला गया। वह क्रम भले ही मन्द पड़ गया है, मगर अब तक चालू है। सेठ सरदारमलजी सा० कांकरिया की साहित्य-भक्ति के फलस्वरूप यह ३२ वीं और ३३ वीं किरण प्रकाश मे आ रही है। इनके प्रकाशित होने से गृहस्थधर्म तीन भागो मे समाप्त हो रहा है।

इन तीनों भागों में सम्यग्दर्शन, श्रावक के बारह व्रतों और छह आवश्यकों पर पूज्य श्री के प्रवचन हैं। इनमें से बारह व्रत पहले मंडल की ओर से पृथक् पृथक् प्रकाशित हुए थे। इस संस्करण में उनमे भी कुछ न्यूनाधिकता की गई है। विस्तारभय से कुछ कथाएँ कम कर दी गई हैं। वह कथाएँ पाठकों को 'उदाहरणमाला' में मिल जाएँगी। जो कथाएँ अत्यावश्यक प्रतीत हुईं, उन्हे रहने भी दिया गया है। इसी प्रकार अहिसा आदि व्रतों सम्बन्धी पूज्य श्री के प्रभावशाली वचन नये भी सम्मिलित कर दिये गये हैं। आशा है, इससे गृहस्थ-धर्म के जिज्ञासुओं को विशेष लाभ होगा।

गृहस्थधर्म के तीनों भाग पढकर पाठक समझ सकेंगे कि श्रावक का कितना दायित्व है, कितना कर्तव्य है और क्या गौरव है? यह प्रवचन श्रावक जीवन का परिपूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित करते है। जो गृहस्थ ध्यानपूर्वक इन्हे पढ़ेंगे, उनके अन्तःकरण में एक बार अवश्य यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि—दिन-रात साधुओं के आचार की आलोचना करने वाले गृहस्थ कितने पानी में है? जो श्रावक चाहते हैं कि हमारे साधु शास्त्रप्रतिपादित आचार से इंच भर भी इधर-उधर न हों, वे अपने विषय मे भी यही क्यों नहीं सोचते? इसका अभिप्राय यह नहीं कि हम साधुओं से ऐसी आशा न रक्खें, मगर हम श्रावकों को भी शास्त्रप्रतिपादित श्रावकाचार का अनुसरण करना चाहिए। तभी हम दूसरों की आलोचना करें तो कदाचित् शोभा दे।

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित श्रावकचार इस लोक और परलोक—दोनों दृष्टियों से अत्यन्त कल्याणकारी है। जो उसे अपने जीवन में उतारेगा उसका यह जीवन भी धन्य बन जायगा और आगामी जीवन भी। फिर पूज्य श्री ने उसका जिस ढंग से विवेचन किया है, वह भी बड़ा ही मार्मिक है। इस अशान्त विश्व में अगर शान्ति का संचार कभी होना है तो वह तभी होगा जब दुनिया के लोग उन सिद्धान्तों पर चलेंगे, जो यहाँ प्रतिपादित किये गये हैं। हम चाहेंगे कि ऐसा हो और जगत् में सर्वत्र शान्ति का प्रसार हो।

अन्त मे सम्यक् ज्ञानमंडल और उसके सेवाभावी उत्साही मन्त्री श्री कांकरियाजी के प्रति पाठकों की ओर से मैं कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ, जिनके प्रशस्त सहयोग से यह उपयोगी और जीवन-निर्माण करने वाला साहित्य प्रकाश में आया है।

ब्यावर
ता० ८-६-५७

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

सत्याणुव्रत

सत्य क्या है ?

तं सच्चं भयवं

—प्रश्नव्याकरण सूत्र

'सत्य भगवान् है' यह कह कर जिस सत्य की प्रशंसा की गई है, उस सत्य की पूर्ण एवं सांगोपांग व्याख्या करना कठिन है और हमारे तथा आपके लिए तो असंभव-सा ही है। सत्य की पूर्ण व्याख्या करने के अधिकारी वही पुरुष हैं, जिन्होंने सत्य को पूर्ण रूप से अपना लिया हो। पर सत्य की पूर्ण व्याख्या शब्दों द्वारा हो नहीं सकती। जिन महापुरुषों ने पूर्ण रूप से सत्य को प्राप्त कर लिया है, उनमें और ईश्वर में कोई भेद नहीं रहता। हम छद्मस्थों में तो अभी इतनी भी शक्ति नहीं कि उन महापुरुषों ने अपने पावन उद्गार रूप शास्त्रों में जो कुछ कहा है, उसे पूर्णतया समझ सकें।

सत्य की पूर्ण व्याख्या करना यद्यपि हमारे लिए कठिन है, तथापि प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करने पर, सर्वत्र नहीं तो किसी न किसी

अंश तक अपने ध्येय तक पहुँचता ही है। इसी नीति के अनुसार हम अपनी शक्ति भर यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि सत्य क्या है ?

यों तो साधारणतया मनुष्य मात्र को, सत्य का वास्तविक स्वरूप जानने की इच्छा रहती है, क्योंकि सत्य आत्मा का निज स्वरूप है; परन्तु सत्य को अच्छी तरह वही लोग जान सकते हैं, जिन्हे सत्य हृदय से प्यारा है, जो सत्य के उपासक हैं या उसकी उपासना करना चाहते हैं और सत्य के सामने त्रिलोकी की सम्पदा को ही नहीं, वरन् अपने प्राणो को भी तुच्छ समझते हैं।

जो किसी एक सम्प्रदाय, पंथ या मजहब के पीछे उन्मत्त है, जो स्वार्थ को सर्वोपरि समझकर सत्य-असत्य की परवाह नहीं करता, जो सत्य-असत्य का विवेक न करके केवल हाँ में हाँ मिलाना ही जानता है, ऐसा मनुष्य सत्य को नहीं पहचान सकता।

जिस विचार, बात और कार्य का त्रिकाल में भी पलटा न हो, जिसको अपनी आत्मा निष्पक्ष भाव से अपनावे, जिसके पूर्णरूप से हृदय में स्थित हो जाने पर भय, ग्लानि, अहंकार, मोह, दम्भ, ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि कुत्सित भाव निःशेष हो जावें, जो भूत में था, वर्तमान में है और भविष्य में होगा तथा जिसके होने पर आत्मा को वास्तविक शांति प्राप्त हो, उसी का नाम 'सत्य' है।

वेदव्यासजी ने सत्य की व्याख्या निम्न प्रकार से की है:—

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं वाङ्मन-श्चेति परत्र बोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रांता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति।

—योगदर्शन भाष्य सा० पा० ३

मन सहित वाणी के यथार्थ होने का नाम 'सत्य' है। यानी जैसा देखा, समझा और सुना है, दूसरे को कहते समय मन और वाणी का ठीक वैसा ही प्रयोग हो, उसे 'सत्य' कहते हैं। देख, सुन और समझकर सम्यक प्रकार-से जो बात अपनी समझ में आयी है, ठीक वही सुनने वाले की भी समझ में आवे, उसका नाम 'सत्य' है।

जिसके द्वारा अवास्तविक बात, विचार और कार्य का विरोध होता है, तथा जिसके प्रकट हो जाने पर अवास्तविक विचार, बात और कार्य नहीं ठहर सकते हैं, उसे 'सत्य' कहते है अर्थात् वास्तविक विचार, बात और कार्य ही सत्य है। महाभारत में कहा है:—

अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत।

सभी वर्णों में सदा विकार रहित रहने वाले का नाम ही 'सत्य' है।

सत्य की मूर्ति किसी पाषाण की बनी हुई नहीं होती है, न इसका कोई स्थान ही नियत है। यह देह में स्थित जीव के समान सब जगह मौजूद है। कोई वस्तु या स्थान ऐसा नहीं है जहाँ सत्य न हो। जिस वस्तु मे सत्य नहीं है, वह वस्तु किसी काम की नहीं रहती और उसका नाम भी बदल जाता है। जैसे सूर्य में सत्य वस्तु 'प्रकाश' है। यदि सूर्य में से प्रकाश निकल जाय, तो उसे सूर्य कोई न कहेगा। दूध में सत्य वस्तु 'घृत' है। यदि घृत निकल जाय तो उसे दूध कोई न कहेगा। तात्पर्य यह है कि 'सत्य' उस स्वाभाविक और वास्तविक वस्तु का नाम है, जिसके होने पर किसी वस्तु विचार कार्य आदि के नाम, रूप तथा गुण में परिवर्तन न हो सके और जिसके न रहने पर ये तीनों या इनमें से कुछ बातें बदल जाएँ।

स्वभावतः मनुष्य के हृदय मे एक से एक उत्तम गुण विद्यमान हैं। उत्तम गुण सीखने के लिए मनुष्य को कहीं जाना नहीं पड़ता, वे तो सर्वथा स्वाभाविक होते है। यदि मनुष्य कुसंग में पड़ कर बुरी

बातें अपने हृदय में न भर ले और जन्म से ही सत्य के वातावरण मे पले, तो संभवतः वह असत्याचरण का विचार भी न करे। यदि किसी शिशु को सत्यासत्य विवेक का उपदेश न भी दिया जाय किन्तु असत्य आचरण उसके सामने न किया जाय, तो निश्चित ही वह सत्य का अनुगामी बनेगा। सारांश यह कि सत्य एक प्राकृतिक गुण है और असत्य अस्वभाविक है, आरोपित है।

सत्य एक व्यापक और सार्वभौम सिद्धांत है। संसार में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं और उनके सिद्धांत भी पृथक् २ हैं। बहुत से मतों के ऊपरी सिद्धांत तो इतनी भिन्नता रखते हैं कि एक मतानुयायी दूसरे मतानुयायी से मिल नहीं पाता। बल्कि, इन्हीं ऊपरी सिद्धान्तों को लेकर प्रायः आपस में महायुद्ध मचा देते हैं। ऐसा होते हुए भी, सब मतावलम्बी, यदि गम्भीरतापूर्वक निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो मालूम होगा कि धर्म की नींव 'सत्य' के ऊपर ही है और वह सत्य सब के लिए एक है। उस सत्य को समझ लेने पर, वे ही लोग, जो आपस में धर्म के नाम पर द्वेष करते हैं, द्वेष-रहित होकर एक दूसरे से गला मिलाकर भाई की तरह प्रेमपूर्वक रह सकते हैं।

सत्य का पूजन प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। इसके लिए जाति विशेष या धर्म विशेष का कोई बन्धन नहीं है। बल्कि जो कोई सत्याचरण करता है, वह पूरा धर्मात्मा बन जाता है। सत्य के पूजन की सामग्री के लिए वैसे तो कौड़ियां भी खर्च नहीं होती, पर कभी-कभी इतनी कीमत चुकानी पड़ती है कि जिसकी समानता, संसार की सारी उत्तम से उत्तम वस्तुएँ भी नहीं कर सकतीं। यदि कोई पूछे कि सत्य का पूजन किस तरह करना चाहिए? तो उत्तर मिलेगा, 'सत्यं चर' अर्थात् सत्य का आचरण कर। मन, वचन और काया से, सत्य का आचरण करना ही सत्य की पूजा करना है।

सत्य का महत्त्व

सच्चंमि धिइं कुव्वहा । एत्थोवरए
मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ ॥

—आ० सू० प्र० श्रु०

यथावस्थित वस्तुस्वरूप को प्रकट करने वाला सत्य ही है। कुमार्ग का परित्याग करके, जो मनुष्य त्याग को ग्रहण करता है और उसके पालन में धैर्य रखता है, वही तत्त्वदर्शी, सब पाप कर्मों का नाश करता है।

शास्त्र के उक्त प्रमाण से प्रकट है कि सत्य सर्व पापों का नाश करने वाला है। बिना सत्य को अपनाये, वे कर्म जो अनन्त काल से जीव को घेर रहे हैं, दूर नहीं होते। तात्पर्य यह है कि, पापो का नाश करके स्वर्गादि सुखों को प्राप्त कराने वाला सत्य ही है।

संसार में प्रत्येक मनुष्य धर्म का इच्छुक होता है और अपनी आत्मा का कल्याण चाहता है। आत्मा का कल्याण धर्म से ही होता

है। जिससे कि आत्मा का कल्याण होता है, उस धर्म में प्रधान वस्तु 'सत्य' ही है। यदि धर्म से सत्य को पृथक् कर दिया जाय, तो धम नाममात्र के लिए शेष रह जायगा अर्थात् अपूर्ण होगा। लेकिन आप धर्मात्मा तभी बन सकते हैं जब वास्तविक सत्य का पालन करें। नामधारी सत्यवादी धर्मात्मा नहीं बन सकते। वैसे तो सत्य को सब मानते हैं, लेकिन इसे पूरी तरह कार्य रूप में नहीं लाते।

सत्य को जैन-शास्त्रो ने तो धर्म के प्रधान अङ्गों मे से एक माना ही है, परन्तु अन्य धर्मों में भी सत्य को यही स्थान प्राप्त है। महाभारत (शांति पर्व) मे कहा है:—

नास्ति सत्यात्परो धर्मः—

अर्थात्—सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है।

तात्पर्य यह है, कि सत्य को सभी ने धर्म के प्रधान अंगो मे माना है। सत्य की विशेष प्रशंसा के लिए महाभारत में कहा है—

सत्यस्य वचनं साधुनं सत्याद्विद्यते परम्

सत्य वचन ही सबसे श्रेष्ठ है। सत्य से उत्तम और कुछ भी नहीं है। इसी तरह धर्म की उत्पत्ति का स्थान सत्य को ही माना है। यथा—

सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्द्धते ॥

सत्य से धर्म की उत्पत्ति होती है और दया दान से उसकी वृद्धि होती है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में सत्य की प्रशंसा में कहा है कि:—

'मन्त्र, औषधि और विद्याओं का साधन सत्य से होता है। चारण (देव विशेष) तथा श्रमणों की, आकाश-गमनादि विद्याएँ सत्य के प्रभाव से ही सिद्ध होती हैं। सत्य, मनुष्यों का वन्दनीय, देव-

ताओं का अर्चनीय, असुरगणों का पूजनीय और अनेक व्रतधारियों द्वारा स्वीकार किया हुआ, संसार में सारभूत (निचोड़) है। सत्य क्षोभ करने के योग्य न होने से महासमुद्र से भी बढ़कर गम्भीर, विचलित न होने के कारण मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर, सन्ताप को दूर करने के कारण चन्द्र मण्डल से भी अधिक सौम्य, वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रकाशक होने से सूर्य मण्डल से भी अधिक तेजस्वी, अति-निर्दोष होने के कारण आकाशमण्डल से भी अधिक स्वच्छ, और सत्य-प्रेमियों के हृदय को वश मे रखने के कारण गन्धमादन-पर्वत से भी अधिक सुगन्धित है।'

सत्य के विषय मे भर्तृहरि ने कहा है—

'सत्यं चेत्तपसा च किं ?'

यदि सत्य विद्यमान है तो तप करे तो क्या, और न करे तो क्या ? अर्थात् तप से भी सत्य का प्रभाव अधिक है।

चाणक्य ने अपनी नीति मे कहा है:—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात, विषयान्विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयाशौचं, सत्यं पीयूषवत्पिव ॥

'हे भाई, यदि आप मुक्ति के इच्छुक हैं, तो विषयो को विष के समान छोड़कर, सहन-शीलता, सरलता, दया, हृदय की पवित्रता और सत्य को अमृत की भाँति पिओ।'

सत्य की महिमा बतलाते हुए कहा गया है:—

सत्येनाग्निर्भवेच्छीतो, आगाधं धत्तेऽम्बु सत्यतः।
नासिश्छिनत्ति सत्येन, सत्याद्रज्जूयते फणी ॥

अर्थात्—सत्य के बल से जला देने के स्वभाव वाली अग्नि शीतल हो जाती है, डुबा देने वाला अथाह जल थाह वाला हो जाता है, काटने वाली तलवार भी नहीं काट सकती और भयंकर विषधर सर्प रस्सी के समान हो जाता है।

आवश्यक सूत्र मे कहा है कि—"सत्यवादी सत्य के प्रभाव से समुद्र या जल की बाढ़ में नहीं डूब सकता, किन्तु उसके लिए वह जल थाह हो जाता है। दिशा को भूल जाने पर, यथा-स्थान ले जाने वाले सैन्यादि से युक्त हो जाता है। अग्नि-उपद्रव उसकी कोई हानि नही कर सकता। तपाया हुआ तेल, लोहा, शीशा आदि वस्तुएँ, हाथ में लेने पर उसका हाथ नहीं जला सकती। सत्यधारी पर्वत से गिराये जाने पर भी नही मर सकता, एवं खड्गधारी शत्रुओ में चारों ओर से घिर जाने पर भी, उनके बीच से अक्षत शरीर बच आता है, और वध, बन्धन अभियोग, वैर आदि घोर उपद्रवों से, बाल बाल सुरक्षित रहता है। सत्य के पालन करने वालों में, ऐसी दिव्य शक्ति होती है कि स्वयं देवता भी उसके समीप चले आते हैं।

जो मनुष्य, सत्य का आचरण करने लग जाता है, वह लोगों मे देव के समान पूजनीय हो जाता है। उसका आत्म-बल बढ़ जाता है और वह उस आत्म-बल द्वारा, महान् से महान् कार्य भी कर सकता है। आत्म-बल किसी भी बल से कम नहीं है। इस बल के सामने भौतिक बल तुच्छ हेय और नगण्य है।

जिन तोपों और मशीनगनों के नाम मात्र से लोग कॉप उठते है, जिनकी गड़गड़ाहट की भयंकर ध्वनि से, लोगो के रोम रोम खड़े हो जाते हैं और गर्भवती स्त्रियों के गर्भ पतन हो जाते हैं, ये ही तोपें तथा मशीनगनें, सत्य द्वारा बल प्राप्त करने वाले आत्मबली का एक

रोम भी नहीं हिला सकतीं। उनके सामने, वे शाक-भाजी भरने के टोकरो के समान निकम्मी हो जाती है।

इस सत्य द्वारा प्राप्त आत्म-बल को, आजकल 'सत्याग्रह' भी कहते हैं। सत्याग्रह का वास्तविक अर्थ, सत्यबल का प्रयोग या सत्य पर अटल रहना है।

सत्य के बल की तुलना, कोई बल नहीं कर सकता। इस बल के सामने, मनुष्य-शक्ति तो क्या किन्तु देव-शक्ति भी हार मान जाती है। कामदेव श्रावक पर, देवता ने अपनी सारी शक्ति का प्रयोग किया, लेकिन कामदेव ने अपनी रक्षा के लिए किसी अन्य शक्ति का आश्रय न लिया। उसने केवल सत्योपार्जित आत्म-बल से ही उस देवता की सारी शक्ति को परास्त कर दिया था।

प्रह्लाद के जीवन का इतिहास भी सत्याग्रह का महत्त्वपूर्ण दृष्टांत है। प्रह्लाद ने अपने पिता की अनुचित आज्ञा नहीं मानी। इसलिए उस पर कितने ही अत्याचार किये गये, लेकिन अन्त में सत्याग्रह के सामने, अत्याचारी पिता को ही परास्त होना पड़ा।

बहुत से लोग अत्याचार को मिटाने के लिए, अत्याचार से ही काम लेते हैं। अत्याचार से, अत्याचार चाहे एक बार मिटा-सा दिखाई भी दे, परन्तु वास्तव में वह निर्मूल नहीं होता। समय पाकर वह मिटा हुआ अत्याचार भयंकर रूप में ज्वाला मुखी की तरह फट कर बाहर निकल आता है, और उसकी लपटें प्रतिपक्षियों का नाश करने के लिए पहिले से भी ज्यादा उग्रता से लपलपाने लगती हैं। अतएव अत्याचार का अत्याचार से नाश करने का विचार निरर्थक है। अत्याचार से न तो अत्याचार ही भली भाँति मिटता है, न संसार मे शांति ही फैलती है, इसका वास्तविक उपाय तो सत्याग्रह ही

है। क्योंकि सत्याग्रह में दूसरे के नाश का हेतु नही रहता, किन्तु उसे सुधारने का हेतु रहता है।

अत्याचार का प्रभाव, केवल शरीर पर ही पड़ा करता है मन पर नहीं। और जब तक मन पर प्रभाव न पड़े, तब तक जिस कार्य के लिए अत्याचार किया जाता है, उस कार्य में पूर्णतया और स्थायी सफलता प्राप्त नहीं होती। लेकिन सत्याग्रह का प्रभाव मन पर पड़ता है और मन सारे शरीर का राजा है। इसलिए सत्याग्रह द्वारा प्राप्त सफलता स्थायी और शांतिप्रद होती है।

जिस समय भारत मे चारो ओर हिंसा का ही साम्राज्य था, लोग यज्ञ के नाम पर अनेक मूक पशुओ का निर्दयता-पूर्वक वध कर डालते थे, वे पशुओं को अपना खाद्य समझते थे, उस समय भगवान महावीर ने सत्याग्रह (सत्य-संदेश) द्वारा ही उस हिंसा को मिटाकर शांति स्थापित की थी। भगवान् महावीर राजपूत थे। यदि वे चाहते तो राज्य-सत्ता से भी हिसा को मिटा सकते थे। लेकिन इस तरह से मिटाई हुई हिंसा, निर्मूल नही होती। भगवान् महावीर के न रहते ही, या राज्य-शक्ति मे शिथिलता आते ही वह हिंसा पुन. प्रचलित हो जाती।

सत्याग्रह एक महाशस्त्र है। उसका प्रयोग अत्याचारो पर रामवाण की तरह अचूक होता है। हाँ शर्त यही है कि प्रयोग करने के पहले प्रयोग करने वाला, अपने दुर्गुणों को दूर करके, अपने ही ऊपर सत्याग्रह का पूरा प्रयोग कर ले। इसमें विजयशाली होने पर, उसका प्रभाव प्राणियों पर ही नहीं, किन्तु जड़ पदार्थों पर भी पड़ता है। सत्यनिष्ठ पुरुष के प्रभाव से, अग्नि शीतल हो जाती है, विष अमृत बन जाता है और अस्त्र-शस्त्र फूल से कोमल हो जाते हैं। जब

इतना हो जाता है, तो क्रूर-प्राणियों की क्रूरता दूर होने में संदेह ही क्या है? इसके विपरीत, अर्थात् अपने दुर्गुणों को दूर किये विना, केवल दूसरों को दबाने लिए जो सत्याग्रह किया जाता है, वह सत्याग्रह दुराग्रह हो जाता है और स्वयं करने वाले का ही नाश कर देता है। ऐसे भी अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

भगवान् महावीर ने सत्याग्रह का प्रयोग पहले अपने ही ऊपर कर लिया था। इससे वे, चण्डकौशिक ऐसे विषधर सर्प के स्थान पर लोगों के मना करते हुए भी, निर्भयता-पूर्वक चले गये। उस चण्डकौशिक ने—जिसकी दृष्टि मात्र से ही जीवों को मृत्यु का आलिंगन करना पड़ता था—भगवान् महावीर को अपने भयंकर विषैले दाँतों से काटा भी, लेकिन सत्य के प्रताप से वह विष भगवान् की किंचित मात्र भी हानि न कर सका। उल्टे चण्डकौशिक की तामसी प्रकृति भगवान् महावीर की सात्विकी-प्रकृति से टकरा-कर शांति हो गई और भगवान् से बोध पाकर वह कल्याण-मार्ग का पथिक बना।

जिसने सत्य के द्वारा अपनी आत्मा को बलवान् बना लिया है, वह मृत्यु से भी भय नहीं करता। प्राणों के असीम संकट में पड़ने पर भी, ऐसा आत्मबली धैर्य से जरा भी विचलित नहीं होता और प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणों का त्याग करता है।

गजसुकमाल मुनि, श्मशान में बारहवीं भिक्षु पडिमा धारण किये हुए थे। इतने में सोमल ब्राह्मण आया। उसने क्रोधित हो, गजसुकमाल मुनि के सिर पर चारों ओर मिट्टी की पाल बना; उसमें जलते हुए लाल २ खेर के अंगारे भर दिये। लेकिन गजसुकमाल मुनि का ध्यान भंग न हुआ।

इस भीषण विपत्ति से भी, गजसुकमाल मुनि का हृदय क्षुब्ध नहीं हुआ, न ब्राह्मण के प्रति उसके हृदय मे क्रोध ही उत्पन्न हुआ।

हाँ, दया के भाव अवश्य उत्पन्न हुए। सत्य तो उनके हृदय मे स्थित था ही, उसी के प्रभाव से उन्होने विचारा कि, "मेरे सिर पर जो अंगारे रक्खे गये हैं, उनमे मेरी कोई क्षति नहीं है। पौद्गलिक शरीर मेरा नहीं है, मैं तो रूप, रस, गन्ध आदि से रहित, उज्ज्वल आत्मा हूँ। यह शरीर रहता तो अच्छा ही था, किन्तु यदि नष्ट हुआ जा रहा है तो मुझे कुछ दुःख नही है। हाँ, इस ब्राह्मण की अज्ञानता पर मुझे अवश्य दुःख है, जिसके वश यह ऐसा कर रहा है। इसकी अज्ञानता ही ऐसा करा रही है, इसका दोष नहीं है। आत्मा तो मेरी और इसकी समान ही है। मुझे इसके प्रति, किसी प्रकार का क्रोध या घृणा नहीं है।

अंगारे जल रहे हैं, गजसुकमाल मुनि का मस्तक खिचड़ी की तरह सीझ रहा है। किन्तु गजसुकमाल मुनि शांत हैं और उनकी आत्मा, एक दिव्य-लोक की ओर प्रस्थान करने की तैयारी कर रही है।

गजसुकमाल मुनि अन्त तक शांत रहे। इसी शांति के प्रभाव से उन्हे तत्क्षण केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया और इसी नाशवान् शरीर को त्याग कर मोक्ष प्राप्त किया।

यद्यपि सोमल अकारण ही, शांतमूर्ति गजसुकमाल मुनि के प्राणों का इस प्रकार ग्रहक बना था, लेकिन गजसुकमाल मुनि सत्य को पहचानते थे, इसी कारण न तो उन्हें दुःख ही हुआ, न सोमल पर क्रोध ही आया। आज लोगों को अपने किये हुए अपराधों का फल भोगने में भी दुःख और दण्ड देने वाले पर क्रोध होता है। इसका कारण सत्य का न जानना है। सत्य न जानने और उसकी शक्ति प्राप्त न करने से ही ऐसे लोग अपराध, बिलबिलाहट और क्रोध का पाप बाँधते हैं।

सत्य के बल के सामने अन्य बल कुछ नहीं है। सत्य का बल होने पर भय तो नाममात्र को नहीं रहता, न दुःख ही होता है। सत्य को जान लेने और उसके द्वारा आत्मबल प्राप्त कर लेने से ही, सुदर्शन सेठ ने अर्जुन को, जिसने ११४४ मनुष्य मार डाले थे और श्रेणिक ऐसा प्रतापी भी जिसका कुछ न कर सकता था, परास्त कर दिया। इतना ही नहीं अर्जुन को भी सत्य द्वारा आत्मा को बलवान् बनाने का उपाय बतलाकर, सच्चे मार्ग का पथिक बना दिया।

असत्य

नहिं असत्य सम पातक पुंजा,
गिरि सम होहिं न कोटिक गुंजा।

—तुलसीदास

जिस तरह करोड़ों गुञ्जाओ (चिरमीओं) का ढेर पहाड़ के समान नहीं हो सकता, इसी तरह अन्य पापों का समूह, झूठ के पाप के समान नहीं हो सकता। अर्थात् झूठ का पाप सब पापो से बढ़कर है।

झूठ सत्य का विरोधी है। पहले कहा गया है कि धर्म का उत्पादक और परलोक में सुखदाता 'सत्य' ही है, इसके विरुद्ध असत्य, धर्म का नाशक और परलोक मे दुःखदाता है। परलोक के लिये तो 'असत्य' हानिप्रद है ही, परन्तु इस लोक के लिये भी यह कैसा हानिकारक है, इसकी निन्दा के लिये शास्त्र मे कहा है—

जम्बू ! वितियं च अलियवयणं लहु सगलहु चवल भणियं

भयकर–दुहकर–अयसकर–वेरकरगं अरतिरतिरागदेस–मणसं किलेसवियरणं अलियनियडि–साइजोयबहुलं णीयजण–णिसेवियं निसंसं अप्पच्चयकारगं परमसाहु-गरहणिज्जं परपीलाकारगं परमकण्ह-लेसपहियं दुग्गतिविणिपायवड्ढणं-भवपुणब्भवकरं चिरपरिचिअमणुगयं दुरंतं कित्तियं वीयं अहम्मदारं।

'दूसरा आस्रवद्वार, अलीक वचन यानी मिथ्या भाषण है। यह मिथ्या भाषण, लघु—अर्थात् जो गुण-गौरव से हीन हैं, उनके द्वारा सेवन किया जाता है। यह भय, दुःख, अकीर्ति और वैर को बढ़ाता है, तथा अरति [पारलौकिक विषयो से द्वेष] रति [सांसारिक विषयो से प्रेम] और राग-द्वेष रूप मन को क्लेश का देने वाला है। मिथ्या भाषण करने से, मनुष्य का विश्वास नहीं रहता और इससे प्राणियों की हिंसा भी होती है। इस मिथ्या भाषण के कारण, प्राणी को बार बार संसार में जन्म-मरण करना होता है। यह अनादि काल से चले आते हुए संसार में प्राणियों के साथ लगातार चलता आया है। इसका परिणाम बहुत ही भयंकर होता है। यह अधर्म का दूसरा द्वार है।

असत्य अस्वाभाविक, अवास्तविक और कृत्रिम वस्तु है। मनुष्य को, असत्य उसी प्रकार सीखना पड़ता है, जैसे ठग या चोर किसी को अपना गुरु बना कर, उससे शनैः शनैः चोरी और ठगाई की कला सीखता है। सीखने के पहिले, जैसे मनुष्य मे यह दुर्गुण नहीं होते, उसी प्रकार मनुष्य के स्वच्छ हृदय मे असत्य भी नहीं होता है।

जो कार्य, बात और विचार, मन, वचन या काया से अयथार्थ और दूसरे के हृदय को दुःख देने वाला हो, उसको 'असत्य' कहते है। असत्य अयथार्थ तो है ही, परन्तु जिस बात, कार्य या विचार से दूसरे को दुःख पहुँचे तो उसके वास्तविक और यथार्थ होने पर भी शास्त्रकारो और विद्वानो ने उसकी गणना, सत्य मे नहीं की है—जैसे सूयगडाङ्ग सूत्र में कहा है—

सच्चेसु वा अणवज्जं वयन्ति।

'जो वाक्य पाप रहित और दूसरे को पीड़ा उत्पन्न करने वाला न हो, वही सत्य है। यानी जिस वाक्य से दूसरे को पीड़ा हो, वह सत्य नहीं है।'

दशवैकालिक सूत्र में मुनियों को भाषा-प्रयोग का उपदेश देते हुए कहा है—

तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा।
वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरत्ति नो वए॥

'काने को काना, नपुंसक को हींजड़ा, व्याधिग्रस्त को रोगी, चोरी करने वाले को चोर, ऐसा कटु वाक्य यथार्थ होते हुए भी न कहना चाहिये। यह सत्य नहीं कहलाता, क्योंकि इससे दूसरे के हृदय को दुःख होता है।'

और कहा है—

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चामोसा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो॥

'शंकित भाषा के समान कठोर भाषा, सत्य होने पर भी लोक मे प्राणियो का घात करने वाली अर्थात अत्यन्त अनर्थ-कारक होती है। अतः कटु सत्य का भी प्रयोग न करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि वह सत्य, जिसके कथन से दूसरे के हृदय को दुःख पहुँचे, सत्य नहीं, वरन् असत्य है। मनुस्मृति में भी कहा है—

हीनाङ्गानतिरिक्तान विद्याहीनान् वयोऽधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥

भावार्थ—हीन अंग वाले को काणा इत्यादि, अधिक अङ्ग वाले को छः उङ्गली वाला आदि, अविद्वान् को मूर्ख, अधिक आयु वाले को बुड्ढा डोसा आदि, रूपहीन को कुरूप, द्रव्य हीन को कङ्गाल और हीन जाति वाले को नीच आदि शब्दो से न कहे। यद्यपि यह भाषा यथार्थ है, किन्तु इन वाक्यो से सुनने वाले का दिल दुखता है, इसलिये ऐसा 'सत्य' सत्य नहीं है। १॥

योगदर्शन के भाष्य मे वेदव्यासजी ने कहा है—

एपा सर्वभूतोपकारार्थप्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभि धीयमाना, भूतोपघाताय परैव स्यात् न सत्यं भवेत्।

वाक्यो का प्रयोग, इस प्रकार से करना चाहिए, जिससे जीवो का मङ्गल हो। किसी को भी दुःख न हो। यदि वाक्य के ठीक-ठीक उच्चारण से भी दूसरे को दुःख हो तो वह सत्य नहीं, वरन् असत्य है।

शास्त्रकारों और विद्वानो ने तो इस प्रकार उस सत्य की, जो दूसरे के हृदय को दुखित करे, निन्दा करके उसे असत्य बतलाया ही है, परन्तु ऐसे कटु-सत्य का प्रयोग करने वाला, संसार मे भी निन्द्य समझा जाता है। इसीलिये जिस बात, कार्य या विचार से दूसरे को दुःख पहुँचे, वह सत्य नहीं कहलाता। उसकी गणना सभी ने झूठ में ही की है।

दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन की टीका में मृषावाद (झूठ) चार प्रकार का बतलाया गया है। सद्भावप्रतिषेध, असद्भावोद्भावन, अर्थान्तर और गर्हा।

सद्भाव प्रतिषेध उस झूठ को कहते हैं, जिसके द्वारा किसी के हृदय में स्थित अच्छे भावों को बुरा बताया जाय अथवा विद्यमान वस्तु को अविद्यमान कहा जाय।

जो वस्तु नहीं है, उसका विधान करना असद्भूतोद्भावन असत्य कहलाता है। जैसे—जीव को न मारने में धर्म और मरते हुए जीव को बचाने मे पाप बताना, या किसी की किसी प्रकार सहायता करने, माता-पिता, पति की सेवा करने और विनय करने का पाप बताना तथा उन्हें कुपात्र समझने के भाव भरना आदि।

'अर्थान्तर' उस झूठ को कहते हैं, जिससे किसी बात, पुस्तक, वस्तु आदि के वास्तविक अर्थ या गुण आदि की जगह अवास्तविक गुण, अर्थ आदि बताये जायँ। जैसे गाय को घोड़ा बताना, अमृत को विष या विष को अमृत बताना, शास्त्र के सही अर्थ को छोड़कर दूसरा ही अर्थ करना।

उस कार्य, बात या विचार को गर्हा झूठ कहते हैं, जिससे किसी की निन्दा हो, या किसी के हृदय को दुःख पहुँचे।

शास्त्र में गुणानुसार, मिथ्या-भाषण के तीस नाम बतलाये हैं। जैसे 'अलीक' (झूठ) १. 'शठ' २. अनार्य लोग कहते हैं, इससे 'अनार्य' ३, माया से युक्त तथा मिथ्या रूप होने के कारण इसका नाम 'माया मृषा' ४ भी है। जो वस्तु नहीं है, उसे यह बतलाता है, इसलिये इसका नाम 'असत्य' ५ है। दूसरे को ठगने के लिये अधिक को कम या कम को अधिक बताता है, कपट से भरा हुआ है और

जो वस्तु नहीं है उसे बतलाता है, इसलिये इसका नाम 'कूट कपट' ६ है। सच्ची बात से यह अलग रहता है और सत्य इससे हटा हुआ है, इसलिये इसका नाम 'निरर्थक अनर्थक' ७ है। द्वेष के कारण इससे दूसरे की निन्दा की जाती है, अथवा साधु पुरुष इसकी निन्दा करते हैं, इसलिये इसका नाम 'विद्वेष गर्हणीय' ८ है। सीधा न होने के कारण इसका नाम 'वक्र' ९ है। पाप या माया और उसका कारण होने से, इसका नाम 'कल्क तत्कारण' १० है। ठगने के कारण इसका नाम 'वञ्चना' ११ है। किये हुए काम से, मिथ्या बोलकर इनकार करने से इसका नाम 'मिथ्या पश्चात कृत' १२ है। अविश्वास उत्पन्न करने के कारण इसका नाम 'साती' (अविश्वास) १३ है। अपने दोष को और दूसरे के गुण को झूठ बोलकर ढांकने से इसका नाम 'उच्छन्न' १४ है। अच्छे मार्ग से हटाकर, न्यायरूपी नदी के तट से अलग रखता है, इसलिये इसका नाम 'उत्कूल' १५ है। पीड़ित मनुष्यों से बोला जाने के कारण, इसका नाम 'आर्त्त' १६ है। किसी के ऊपर झूठा अपराध लगाने से इसका नाम 'अभ्याख्यान' १७ है। पाप का कारण है, इससे इसका नाम 'किल्विष' १८ है। मन्डलाकार टेढ़ा होने से, इसका नाम 'वलय' १९ है। इसके हृदय का पता नहीं पड़ता, इससे इसका नाम 'गहन' २० है। स्पष्ट न होने के कारण, इसका नाम 'मन्मन' २१ है। वस्तु स्वरूप को ढँकता है, इस कारण इसका नाम 'नूम' २२ है। अपने कपट को छिपाने के येलि बोला जाता है, इसलिये इसका नाम 'निष्कृति' २३ है। इसमे विश्वास नहीं होता, इसलिये इसका नाम 'अप्रत्यय' २४ है। इसका व्यवहार अनुचित होने के कारण इसको 'असमय' २५ कहते हैं। वस्तु के न होने पर भी होना बतलाता है, इसलिये इसका नाम 'असत्य सन्धत्व' २६ है। यह पुण्य और सत्य का शत्रु है इस कारण इसका नाम 'विपक्ष' २७ है। इससे बुद्धि बिगड़ जाती है, इसलिए इसका नाम 'अपधीक' २८ है। माया के कारण अशुद्ध होने से 'उपद्धि शुद्ध' २९

नाम है। वस्तु वा सत्ता को ढंक देता है, इसलिए इसे 'अवलोप' ३० कहते हैं। अलीक वचन के ये तीस सार्थक नाम हैं। इस प्रकार इसके और भी अनेक नाम होते है।'

झूठ का यह थोड़ा सा स्वरूप बताया है। इसको अपनाने वाला, सदा दुःख की ही ओर अग्रसर होता है।

सत्य से लाभ और असत्य से हानि

प्रियं सत्यं वाक्यं, हरति हृदयं कस्य न सखे।
गिरं सत्यां लोकः प्रतिपदमिमामर्थयति च॥
सुराः सत्याद्वाक्याद्ददति मुदिता कामिकफलं।
अतः सत्याद्वाक्याद् व्रतमभिमतं नास्ति भुवने॥

प्रिय सत्य वाक्य किसके हृदय को हरण नहीं करते? अर्थात् सबका हृदय हरण कर लेते हैं। लोक, पद पद में सत्य की याचना करते हैं। देवता सत्य से प्रसन्न होकर मनोवांछित फल देते हैं। इस-लिए संसार में, सत्य से बढ़कर दूसरा कोई व्रत नहीं है।

सत्य और असत्य के विषय में ऊपर संक्षेप में बतलाया जा चुका है। अब यह देखना है कि सत्य को धारण करने से क्या लाभ है और झूठ को न तजने से क्या हानि है?

सत्य का पालन, तीन प्रकार से होता है। मन से, वचन से और काया से।

जिस विचार मे, संसार के किसी प्राणी को कष्ट देने की कल्पना न की गई हो, जिसके प्रकट कर देने पर किसी प्रकार की कुत्सित भावना का परिचय न मिले और वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त करके निष्पक्ष भाव से प्राणीमात्र को अपना मित्र समझते हुए जो विचार किया जाय, वह मानसिक सत्य है।

जिस वाणी में किसी को अनुचित कष्ट पहुँचने योग्य बात न कही गई हो, जो विचार पूर्वक बोली गई हो, जिसको वक्ता ने निस्वार्थ-भाव से केवल सत्य का स्पष्टीकरण करने के लिये कही हो, जो बात जैसी देखी, सुनी या समझी है, उसको वैसे ही समझाने को कही हो, वह वाचिक अर्थात् वाणी का सत्य है।

जिस कार्य के करने से, संसार के किसी प्राणी का अहित न होकर हित ही हो, जो स्वार्थ, छल, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेषादि दुर्गुणों से रहित हो, शास्त्र में वर्णित नीति को जिस कार्य से क्षति न पहुँचती हो, वह कायिक सत्य है।

उपरोक्त तीनो भेदों का एकीकरण हो जाने पर शास्त्र में जिस सत्य को भगवान् ने पूर्ण सत्य कहा है, वह सत्य तैयार हो जाता है। अर्थात् ऐसे सत्य को पूर्ण रूप से पालन करने वाले में और ईश्वर मे कोई अन्तर नहीं रहता।

सत्य विचार, सत्य भाषण और सत्य व्यवहार करने वाला मनुष्य ही उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है। जिस मनुष्य मे सत्य नहीं है, समझना चाहिए कि उसकी देह जीव-रहित काष्ठ-पाषाण की तरह, धर्म के लिये अनुपयोगी है।

मनुष्य को असत्याचार से प्रकट में चाहे कुछ लाभ दीखे, परन्तु वे लाभ क्षणिक और अस्थायी होते हैं। तथा इस लाभ के पीछे अनेक ऐसी हानियाँ छिपी रहती है, जो उस समय नहीं दीखती।

जो मनुष्य, सत्य का आचरण नहीं करता, वह संसार में कभी सुखी न रह सकता है और न उसका कोई आदर ही करता है। जब इस लोक के लिए यह बात है, तब परलोक के लिए भी यही बात हो, तो इसमें सन्देह ही क्या है ?

संसार के लिए भी, सत्य का व्यवहार अत्यावश्यक है। यदि सत्य व्यवहार निःशेष हो जाय, तो सारे कारबार उसी दिन बन्द कर देने पड़ें। क्योंकि असत्याचरण जब प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय हो जायगा, तो कोई एक दूसरे पर किंचित् भी विश्वास कैसे कर सकता है ? इन्हीं बातों को दृष्टि में रख कर किसी ने कहा है—

> सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः ।
> सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥

'सत्य ने ही पृथ्वी को धारण कर रखा है। सत्य से ही, सूर्य तपता है, सत्य से ही हवा बहती है और सब कुछ सत्य से ही स्थिर है।'

प्रकृति ने मनुष्य को ही सत्याचरण नहीं सिखाया है, बल्कि वह स्वयं भी सत्य का अनुसरण करती है अर्थात् समयानुसार ऋतुओं का परिवर्तन और ग्रह उपग्रहों का ठीक ठीक अपने कक्ष पर चलना भी, सत्य की पुष्टि करता है। यदि गर्मी की ऋतु के स्थान पर वर्षा-ऋतु और वर्षा-ऋतु के स्थान पर हेमन्त-ऋतु आदि उलटफेर हो जाया करे, तो कैसी भारी गड़बड़ी हो जाय, यह बात सब जानते हैं।

जिस प्रकार प्रकृति के नियम, सत्य का पालन करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के अन्दर भी एक ऐसा पदार्थ है, जो सदा सत्य-पालन का आदेश देता है। उस वस्तु का नाम है 'आत्मा'। किसी झूठे कार्य

का आत्मा कभी समर्थन नहीं करता। यदि मनुष्य अपने हृदय में बुरे विचारों और दुष्कर्मों की आँधी लाकर, आत्मा को चारों ओर से धूलिच्छादित न कर दे, तो आत्मा उसे सर्वदा सत्य मार्ग ही दिखलायगा। इतना सब कुछ होते हुए जब कोई भी मनुष्य, क्रोधादि दुर्गुणों को हृदय से निकाल कर, शांत भाव से विचार करता है, तो उसे वही दिव्य प्रकाश किसी अंश में दिखाई देता है जो सत्य पालन करने वाले को दिखाई दिया करता है। अर्थात आत्मा उसे ऐसे ही मार्ग दिखाता है, जो उसके लिए कल्याणकर हो। जब कोई मनुष्य किसी ऐसे कार्य को करना चाहता है, जो सत्य के विरुद्ध हो, तो उसकी आत्मा भीतर ही भीतर संकेत करती है कि, यह कार्य बुरा है। इसका कारण तुम्हारे लिए उचित और कल्याणकर नहीं है। यद्यपि आत्मा की यह पुकार मानव के पाप पुद्गलों के पुञ्ज से आच्छादित मन तक पूरी नहीं पहुंचती, परन्तु कैसा भी घोर पापी मनुष्य क्यों न हो, इस मधुर सन्देश का आभास उसे अवश्य मिल जाता है।

जो सत्य, आत्मा-रूप से मनुष्य के हृदय में स्थित है, वही सत्य सारे संसार में भिन्न २ रूपों में दिखाई देता है। प्रत्येक पदार्थ में यह किसी न किसी रूप में अवश्य मौजूद है। यदि यह न हो, तो संसार की स्थिति ही एक विचित्र प्रकार की हो जाय। सत्य की अनुपस्थिति में मनुष्य ही मनुष्य के प्राणों का ग्राहक बन सकता है।

जिस मनुष्य के हृदय से, सत्य की शक्ति निकल जाती है, अर्थात् आत्मा को उसके बुरे विचारों के उद्गल चारों तरफ से घेरे लेते हैं वह मनुष्य न करने योग्य कार्यों को भी करके, उसके फलस्वरूप नाना प्रकार के दण्ड भोगता और पाप कर्म बाँधता है। ऐसा मनुष्य जितने २ कार्य करता है, वे कार्य उसे ही शांतिदाता नहीं

होते। जैसे एक मनुष्य सत्य को भूल कर क्रोध से उत्तेजित होकर, किसी मनुष्य का वध कर डालता है। पश्चात् वह चाहे भाग भी जाय, किन्तु उसकी आत्मा को कदापि सुख नहीं मिलता। जीवन भर उसकी आत्मा उसे कोसती रहती है। यदि संयोग से पकड़ लिया गया और न्यायधीश ने उसे प्राण-दण्ड दिया, तो फैसला सुनने के समय से प्राण नाश हो जाने के समय तक वह अपने ही विचार में कितनी ही बार मरता और जीता है।

जिसके हृदय में सत्य होता है, वह मृत्यु को सम्मुख उपस्थित देख कर भी नहीं घबराता। यदि कोई मनुष्य उसका वध करने चलता है, तब भी वह ऐसी घबराहट में नहीं पड़ता, जैसी घबराहट मे असत्य का आश्रय लेने वाला मनुष्य पड़ जाया करता है। सारांश यह कि सत्य के पालन करने वाले को किसी भी समय अशान्ति नहीं होती।

सत्य इस लोक और परलोक में कल्याण करने वाला और असत्य चक्कर में डालने वाला गुण है। इन दोनों के भेदों को जान-कर भी, जो मनुष्य सत्य का पालन और असत्य का त्याग नहीं करता वह बुद्धिमान् नहीं कहा जाता।

जो लोग, सत्य में भय और असत्य मे सुख मानते है, वे भारी भ्रम में हैं। उनके हृदय की वृत्तियाँ ही इस ढंग की बन गई हैं, जिससे वे ऐसा समझने लग गये हैं। किन्तु वास्तव मे यह बात नहीं है। सच्चा सुख तो सत्य के ग्रहण करने से ही मिल सकता है। जिस प्रकार अफीम खाने वाला व्यक्ति अफीम खाने में ही सुख मानता है, किन्तु वास्तव में देखा जाय तो अफीम न खाने मे ही सुख है, इसी प्रकार असत्य का आश्रय ग्रहण करने वाला व्यक्ति भी

असत्य मे ही सुख समझता है। किन्तु उसका यह व्यसन छूट जाय तो वह भी मानने लगे कि मै भूल करता था, वास्तविक सुख तो सत्य का आश्रय ग्रहण करने से ही हो सकता है।

जिस प्रकार अफीम का नशा छोड़ने वाले मनुष्य को पहले कष्ट का अनुभव होता है, उसी प्रकार असत्य को छोड़कर सत्य ग्रहण करने वाले को भी पहले कुछ कष्ट-सा अनुभव होता है। किन्तु यदि उसके हृदय मे सद्ज्ञान का प्रकाश उदय हो जाता है, तो वह इस कष्ट को बिना अनुभव किये ही पार लग जाता है।

जिस प्रकार, बन्दर पींजरे मे कैद होकर अटपटापन अनुभव करता है, उसी प्रकार चञ्चल चित्त वाले मनुष्य को भी सत्य मार्ग का अवलम्बन करने में बड़ा अटपटापन लगता है। क्योंकि उसे असत्य मार्ग पर चलने का अभ्यास हो गया है और वह उस मार्ग का व्यसनी बन गया है। यह व्यसन या तो थोड़ा सा कष्ट सहकर छूट सकता है या किसी पूर्ण ज्ञानी के उपदेश से।

असत्य से मनुष्य को कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति सदैव सत्य का आश्रय लेने से ही मिला करती है। जो मनुष्य असत्य मे सुख का अनुभव करते हैं, उन पर असत्य का पूरा कब्जा हो चुका है, ऐसा समझना चाहिए।

जो मनुष्य अफीम खाना शुरू करता है वह सोचता है कि मै इसे वश में रक्खूंगा, किन्तु परिणाम बिल्कुल उल्टा होने लगता है। थोड़े ही दिनों में वह अफीम अपने भक्त पर ऐसा कब्जा जमा लेता है कि जब तक उसे अफीम नहीं मिल जाता, वह चलने फिरने से लाचार हो जाता है और बड़े दुःख को अनुभव करता है। ठीक इसी प्रकार असत्य का सेवन करने वाले मनुष्य की दशा होती है।

जब वह असत्य का सेवन प्रारम्भ करता है, तब सोचता है कि मैं इस पर कब्जा रक्खूंगा, किन्तु कुछ ही दिनो में वह असत्य उसके जीवन का मूलमन्त्र-सा बन जाता है। असत्य के बिना उसको व्यवहार चलाना कठिन दिखाई देने लगता है और शनैः शनैः वह पतन की ओर जाता हुआ असत्य के ऐसे भारी खड्डे में जा गिरता है, जहां से बिना किसी अच्छे मुनि-महात्मा या किसी अन्य सत्यमूर्ति मनुष्य की सहायता के, उसका उद्धार होना भी कठिन हो जाता है।

मनुष्य को जब तक अनुभव नहीं हो जाता, तब तक सत्य का महत्त्व उसकी समझ मे नहीं आता। जब उसके सिर पर कोई ऐसी आपत्ति आ पड़ती है, जो असत्य का आश्रय लेने से उत्पन्न हुई हो, तो तत्काल ही वह समझ जाता है कि सत्य का क्या महत्त्व है और उसी समय से वह असत्य का परित्याग कर देता है।

सत्य मार्ग पर चलना, तलवार की धार पर चलने के समान कठिन भी है और फूलों के बिछौने पर चलने के समान सरल भी। इसमे प्रकृति की भिन्नता का अन्तर है। ऐसे मनुष्य भी हैं, जो अकारण ही असत्य बोलते रहते हैं और सत्य-व्यवहार को तलवार की धार पर चलने के समान कठिन मानते हैं। उनका विश्वास है कि सत्य व्यवहार करने वाला मनुष्य संसार में जीवित नहीं रह सकता। दूसरे ऐसे भी मनुष्य हो चुके हैं और हैं, जो असत्य व्यवहार करने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य-व्यवहार उनके लिये फूलो की सेज है। फिर उस मार्ग मे उन्हे, चाहे कितने ही कष्ट क्यो न हो किन्तु, वे उनकी परवाह किये बिना ही प्रसन्नतापूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहते हैं।

जो मनुष्य सत्य मार्ग का पथिक है, उस पर शत्रु भी विश्वास करता है और यह बात ध्रुव सत्य है कि वह शत्रु से भी विश्वासघात

नहीं करता। इसके लिये महाभारत में वर्णित एक कथा का उदाहरण दिया जाता है।

जिस समय महाभारत-युद्ध मे दुर्योधन की प्रायः सब सेना और भाई निःशेष हो गये, सौ भाइयो मे से एक दुर्योधन ही जीवित बचा, उस समय दुर्योधन ने सोचा कि मैं अकेला क्या कर सकता हूँ? पांडवो के पास इस समय भी पर्याप्त शक्ति है और मैं अपने भाइयो मे से अकेला हूँ। यह सोचकर वह प्राण बचाने के लिये, एक तालाब की जलराशि में जा छिपा। कई दिन तक इसी प्रकार छिपे रहने के पश्चात् उसने सोचा कि मै क्षत्रिय हूँ, उद्योग करना मेरा परम कर्त्तव्य है। अतः कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिये कि जिससे मेरी मृत्यु भी न हो और मैं पूरी शक्ति के साथ अकेला ही पांडवों से युद्ध कर सकूं। सोचते-सोचते उसके विचार में यह बात आई—'युधिष्ठिर सरल हृदय हैं और सदैव सत्य भाषण करते हैं, अत. उन्हीं से कोई ऐसी युक्ति पूछनी चाहिए, जिससे मैं अजेय हो जाऊँ। यह सोचकर दुर्योधन जल से बाहर निकला और युधिष्ठिर के पास जाकर पूछने लगा—महाराज! मुझे कोई ऐसी युक्ति बताइये, जिससे मैं अजेय हो जाऊँ और भीम या अर्जुन, जिनका मुझे विशेष भय है, मेरा कुछ न विगाड़ सकें। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—राजन्! यह सिद्धि तो तुम्हारे घर में ही है, कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। माता गांधारी बड़ी सती है। यदि वे, एक दृष्टि से तुम्हारे खुले शरीर की ओर देख लें तो तुम्हारा सारा शरीर वज्र के समान कठोर हो जाय। किन्तु एक बात है, वह यह कि शरीर के जिस भाग पर उनकी दृष्टि न पड़ेगी, वह कच्चा रह जायगा।

युधिष्ठिर की यह बात सुनकर, दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा—अब क्या है? अभी जाकर माता गांधारी के

सामने से नग्न होकर निकल जाऊँ। बस फिर तो अर्जुन और भीम मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे।

दुर्योधन यह सोचता हुआ अपने घर की ओर जा रहा था कि मार्ग में उसे श्रीकृष्ण मिले। उन्होंने दुर्योधन के हृदय की बात जानकर कहा—'दुर्योधन! यह युक्ति तो धर्मराज युधिष्ठिर ने अच्छी बतलाई है और इससे तुम्हारा सारा शरीर वज्र भी बन जायगा, किन्तु बिलकुल नग्न होकर, तुम्हें अपनी माता के पास जाना उचित नहीं है। लज्जा की रक्षा के लिये, कम से कम एक कमल-कोपीन तो अवश्य लगा लेना।'

पहले तो इसके लिए दुर्योधन कुछ आनाकानी करता रहा, किन्तु श्रीकृष्ण के नीति बतलाने पर उसने यह बात स्वीकार कर ली। वह अपनी माता के पास गया और उससे यह सारी कथा कही। गान्धारी, यह सुन कर चौंकी। उसे यह नहीं मालूम था कि मेरे में ऐसी शक्ति मौजूद है। किन्तु युधिष्ठिर सदैव सत्य बोलते हैं, कभी असत्य भाषण नहीं करते, अत. अविश्वास करने का कोई कारण भी न था। गान्धारी ने एक दृढ़-दृष्टि से दुर्योधन को देख लेना स्वीकार किया। तब दुर्योधन एक कमल-कोपीन लगाकर उसके सामने आ खड़ा हुआ। गान्धारी ने एक दृढ़-दृष्टि से दुर्योधन के शरीर की ओर देख लिया। इससे उसका सारा शरीर तो वज्र के समान कठिन हो गया, किन्तु जो स्थान ढँका हुआ था, वह कच्चा रह गया। दुर्योधन ने सोचा कि—इस स्थान के कच्चे रह जाने से मेरी क्या क्षति हो सकती है? वह स्थान तो धोती के भीतर रहता है। इस पर कौन चोट करने जाता है। यह विचार कर, वह बाहर निकल आया और पांडवों के पास जाकर, दूसरे दिन भीम से गदा युद्ध करने की बात तय की।

गान्धारी के नेत्रों में, ऐसी शक्ति होने का कारण, उसका पतिव्रत धर्म ही था। उसने अपने नेत्रो से कभी भी किसी परपुरुष को बुरी दृष्टि से नहीं देखा था। पतिव्रता स्त्री के नेत्रो मे यह शक्ति होती है कि यदि वह किसी को पुत्र की तरह देख प्रेम की दृढ़-दृष्टि से देख ले तो उसका शरीर वज्र-मय हो जाय और यदि क्रोध की दृष्टि से देख ले तो भस्म हो जाय।

मनुष्य यदि चाहे, तो अपने नेत्रों और वाणी मे, सत्य से ऐसी शक्ति पैदा कर सकता है। क्योंकि असत्य स्थान पर दृष्टि न डालने और असत्य भाषण न करने से, वाणी और नेत्रो में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो सकती है कि, नेत्र से जिसे देख ले, उसका शरीर वज्रसा दृढ़ हो जाय, या भस्म हो जाय, और वाणी से जो कुछ कह दे वही पूरा हो।

प्रायः पूर्वकाल के लोगो की वाणी मे वह शक्ति होती थी कि वे जिसके लिये जो कुछ कह देते थे, वही हो जाता था। उनका आशीर्वाद या शाप, मिथ्या नहीं होता था। वे लोग सत्य का पालन करते थे और बात-बात मे न तो किसी को आशीर्वाद ही देते थे, न शाप ही। आज के लोग, दिन-रात दूसरे का बुरा-भला चाहा करते हैं, अर्थात् आशीर्वाद या शाप दिया करते हैं, परन्तु कुछ नहीं होता। इसका कारण यही है कि सत्य को न पहिचानने मे उनकी वाणी निस्तेज हो जाती है। यदि सत्य को पहिचान लें तो, न तो वे इस प्रकार किसी का भला बुरा ही चाहें और न चाहा हुआ भला-बुरा निष्फल ही हो।

दूसरे दिन, दुर्योधन और भीम का गदा-युद्ध हुआ। भीम ने अपनी पूरी शक्ति से दुर्योधन के सिर, पीठ, छाती, भुजा आदि

स्थानों पर गदा-प्रहार किये, किन्तु सब निष्फल। गदा लगती और टकरा कर लौट आती। दुर्योधन का बाल भी बाँका न होता। इसी समय भीम को अपनी प्रतिज्ञा याद आई कि मैंने द्रौपदी के चीरहरण के समय, दुर्योधन की जङ्घा चूर्ण करने की प्रतिज्ञा की थी। बस फिर क्या था। तत्क्षण उसने अपनी गदा का प्रहार दुर्योधन की जङ्घा पर किया। जङ्घा कच्ची तो रह ही गई थी, गदा लगते ही चूर्ण हो गई और दुर्योधन गिर पड़ा।

यह कथा बहुत लम्बी है। इसे यहीं छोड़ कर यह विचारना है कि युधिष्ठिर का यह व्यवहार कैसा कहा जा सकता है, जो शत्रु को भी उचित और सत्य सलाह ही देते हैं।

जो मनुष्य सत्य-व्रत के पालने वाले हैं, वे अपनी शरण में आये हुए शत्रु के साथ भी, दुष्टता का व्यवहार नहीं करते। शरण मे आया व्यक्ति, जो सलाह पूछता है, बिना किसी प्रकार का भेद-भाव रक्खे और बिना किसी प्रकार की ईर्ष्या के ठीक-ठीक बतला देते हैं। यह नहीं देखते कि शरणागत शत्रु है या मित्र।

युधिष्ठिर यह जानते थे कि दुर्योधन से मेरा युद्ध चल रहा है। मेरे भाई भीम और अर्जुन को हराने के लिए ही, यह मुझ से सलाह पूछने आया है। इस समय यदि वे चाहते तो कोई ऐसी राय बतला सकते थे, जिससे स्वयं दुर्योधन अपना नाश अपने हाथ से कर लेता। किन्तु युधिष्ठिर ने ऐसा न करके स्वच्छ हृदय से, सच्ची और लाभ-दायक सम्मति ही दी। ऐसा करने वाले, सत्यमूर्ति-युधिष्ठिर के सत्य व्रत की, जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि, जो मनुष्य सत्य मार्ग का पथिक है, वह अपने शत्रु की क्षति के लिए भी कभी झूठ का आश्रय नहीं

लेता। बल्कि आवश्यकता पड़ने पर, शत्रु यदि राय पूछे तो शत्रुता को दूर रख कर एक मित्र की तरह राय देता है।

युधिष्ठिर को, दुर्योधन ने कितने कष्ट दिये थे। वह युधिष्ठिर को, अपना कैसा भयकर शत्रु समझता था। फिर भी युधिष्ठिर ने दुर्योधन से असत्य भषण नहीं किया। दुर्योधन के अजेय होने पर, युधिष्ठिर की ही हानि थी, क्योंकि उसे पराजित करने के लिए ही यह युद्ध हुआ था। लेकिन युधिष्ठिर ने ऐसे समय मे भी सत्य को ही प्रधानता दी और अपनी हानि की कुछ चिन्ता न की। आज के लोगों पर, युधिष्ठिर जैसी कोई विपत्ति न होते हुए भी, वे असत्य को कितनी प्रधानता देते हैं और शत्रु से झूठ न बोलना तो दूर रहा मित्र से भी झूठ बोलने में संकोच नहीं करते। ऐसे लोग, इस बात को बिलकुल भूल जाते हैं कि असत्य की विजय नहीं होती, विजय सत्य की ही होती है। यद्यपि युधिष्ठिर ने स्वयं दुर्योधन को अजेय होने की युक्ति बता दी थी और वह युक्ति असत्य नहीं थी, फिर भी सत्य की विजय होने के लिए, दुर्योधन को मार्ग में कृष्ण मिल गये और उसे पराजित होना पड़ा। इसी प्रकार, सत्य की विजय और असत्य की पराजय होने के लिए, कुछ न कुछ कारण उत्पन्न हो ही जाया करते हैं।

सत्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारक सिद्धान्त है। इसके पालन करने वाले को तो सदैव आनन्द है ही, किन्तु जो व्यक्ति सत्य का पालन करने वाले व्यक्ति के सम्पर्क मे एक बार भी आ जाता है और उसकी एक भी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह भी भविष्य में अपना कल्याण-मार्ग पा जाता है।

परलोक के लिये तो सत्य सुखदायक और झूठ दुखदायक है ही, परन्तु इस लोक में भी सत्यवादी की प्रशंसा और झूठे की निन्दा

होती है। इसके सिवाय झूठ सदा चल भी नहीं सकता। एक समय सम्भव है कि झूठ द्वारा किसी को धोखा दे दिया जाय, परन्तु दूसरे समय, वह झूठा मनुष्य धोखा देने में समर्थ न होगा। बल्कि झूठे मनुष्य की सच्ची बात पर भी सहसा कोई विश्वास नही करेगा। इसके लिए एक कवि ने भी कहा है—

फेर न ह्वै है झूठ से, जो करिहौ व्यवहार।
जैसे हाँडी काठ की, चढ़ै न दूजी बार॥

अर्थात्—झूठ का व्यवहार फिर उसी तरह नहीं हो सकता। जैसे लकड़ी की हाँडी दूसरी बार नहीं चढ सकती।

आजकल के लोग सत्य का महत्त्व भूल जाने के कारण व्यापारादि कार्यों मे तो स्वार्थवश झूठ का प्रयोग करते ही है, परन्तु धर्म-कार्य में भी झूठ को स्थान देने से नहीं हिचकते और जहाँ स्वार्थ भी नहीं है, ऐसी जगह अर्थात् हँसी-मजाक आदि व्यर्थ की बातों मे भी झूठ की भरमार रखते हैं। लेकिन इस प्रकार का झूठ का प्रयोग करने से न तो वाणी मे ही तेज रहता है, न संसार में कोई विश्वास ही करता है। जहाँ सत्यवादी के केवल संकेत–मात्र पर भरोसा किया जाता है, वहाँ झूठे की दस्तावेजों पर भी विश्वास करने में लोग हिचकते है।

झूठ बोलने वाले का इतना अविश्वास हो जाता है कि फिर उसके विश्वास पर कोई कार्य नहीं छोड़ा जाता। व्यवहार सूत्र में कहा है कि—

अन्य अपराधो की सरलतापूर्वक आलोचना कर लेने पर, सूत्रोक्त विधि के पश्चात उस साधु को आचार्यादि श्रेष्ठ पदवी दी भी जा सकती है, लेकिन गाढ़ागाढ़ कारण होते हुए भी जो साधु कपट-

युक्त झूठ बोले और शास्त्रविरुद्ध प्ररूपणा करे, वह आजीवन गर्मा किसी पदवी को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता।

झूठ सब पापों से बढ़कर पाप है और सत्य सब धर्मों से बढ़कर धर्म है। संसार के अन्य पाप विशेषत. सत्य को न समझने से ही होते हैं, इसलिए बुद्धिमान् लोग झूठ को त्याग कर सत्य को अपनावें।
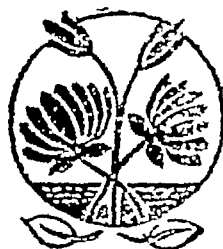
श्रावक के लिए त्याज्य असत्य

नास्ति सत्यात्परो धर्मो, नानृतात्पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यधर्मस्य, तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व ।

"सत्य के समान धर्म नहीं है, न असत्य के समान पाप ही है । धर्म सत्य के आश्रय से टिकता है, इसलिए सत्य का लोप कभी न करना चाहिए ।

जैन-शास्त्र मे पंच-महाव्रत बतलाये गये हैं । उन पंच-महाव्रतों मे पहला महाव्रत अहिंसा का पालन और हिंसा का त्याग है तथा दूसरा महाव्रत सत्य का धारण और मृषावाद का त्याग है । इन महाव्रतों को साधु तो सम्पूर्ण और सूक्ष्म रूप से धारण करता है, लेकिन श्रावक गृहस्थ होने के कारण पूर्ण रूप से धारण करके उनका पालन नहीं कर सकता । अहिंसा व्रत पूर्ण रूप से पालन करने मे

छः काय के जीवों की हिमा का त्याग होता है और श्रावक गृहस्थ होने के कारण उन्हे खेती, व्यापारादि संमार के आवश्यक कार्यों को करना पड़ता है। इन सांसारिक कार्यों में वह सर्वथा जीवहिसा से बच सके, यह असम्भव है। इसी बात को ध्यान में रखकर शास्त्रकारो ने श्रावक को ऐसा अहिसा व्रत बतलाया है, जिसमें श्रावक के संमार-व्यवहार मे भी बाधा न पहुँचे और वह व्रत का पालन भी कर सके। श्रावक के अहिंसा व्रत में केवल स्थूल हिंसा का ही त्याग होता है। गृहस्थाश्रम पालने वाला गृहस्थ स्थूल सूक्ष्म का विचार न करके स्थूल के बदले सूक्ष्म हिंसा का पहिले ही त्याग करने जाता है तो वह ऐसा चक्कर में पड़ता है कि, सूक्ष्म हिंसा का व्रत तो नहीं पालता सो नहीं पालता, लेकिन स्थूल हिंसा के त्याग से भी पतित हो जाता है। इसलिए बुद्धिमान् लोग पहले अहिंसा व्रत को धारण करके स्थूल पाप को छोड़ते हैं और फिर जब वे गृहस्थी के कार्यों को छोड़ देते हैं, तब सूक्ष्म अहिंसा व्रत को धारण करके सूक्ष्म पापों का भी त्याग करते है।

जिस प्रकार अहिसा में स्थूल और सूक्ष्म के भेद किये गये हैं, उसी प्रकार सत्य में भी स्थूल, सूक्ष्म के भेद बतलाये हैं। स्थूल बातो के लिये झूठ बोलना स्थूल झूठ और सूक्ष्म रीति से झूठ बोलना सूक्ष्म झूठ कहा जाता है।

श्रावक को जैसे अहिंसाव्रत में स्थूल हिंसा का त्याग बताया गया है उसी तरह सत्यव्रत में भी स्थूल मृपावाद का त्याग बताया गया है। जिस कार्य, बात या विचार को ससार व्यवहार में कहा जाता है कि यह 'झूठ' है और जिससे किसी जीव को अकारण ही दुःख होता है, उसे स्थूल झूठ कहते हैं। शास्त्र मे श्रावक के इस दूसरे व्रत-सत्य के धारण और स्थूल झूठ त्याग को स्थूल-मृपावाद-विरमण व्रत कहा है।

गृहस्थ सूक्ष्म मृषावाद से नहीं बच सकते। इसलिए सूक्ष्म मृषावाद का त्याग गृहस्थ श्रावको को न बतला कर साधुओं के लिए ही बतलाया है और श्रावकों को स्थूल मृषावाद का त्याग बतलाया है। यदि गृहस्थ श्रावक पूर्ण या किसी अंश में, सूक्ष्म मृषावाद से भी बच सके, तो कोई बुराई की बात नहीं है, लेकिन शास्त्रकारों ने उसके लिए स्थूल-मृषावाद का त्याग ही आवश्यक बतलाया है। क्योंकि सूक्ष्म-मृषावाद के त्याग से, सत्य की जो व्याख्या पहले की गई है, उसका पूर्ण रीति से पालन करना पड़ता है और उसके विरोधी झूठ का सर्वथा त्याग करना पड़ता है। लेकिन गृहस्थ श्रावक संसार में रहता है इसलिए वह यदि सूक्ष्म झूठ का त्याग करता है, तो उसे संसार में अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। इसलिए श्रावक को शास्त्रीय दृष्टि के सूक्ष्म-झूठ का त्याग न बतला कर शास्त्रकार ने उन्हें स्थूल झूठ त्यागने का ही उपदेश दिया है।

कुछ लोगों का कथन है कि श्रावकों को सर्वथा झूठ न बोलने का ही उपदेश देना चाहिए, सूक्ष्म-स्थूल के भेद को न समझाना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से सूक्ष्म-झूठ का अनुमोदन होता है। लेकिन ऐसा कहने वाले लोग जैन-शास्त्र के रहस्यो से अनभिज्ञ हैं, उन्हें जैन-शास्त्र के अगाध विचारो का अच्छी तरह ज्ञान नहीं है। जैन-शास्त्र ऐसी किसी बात का निषेध नहीं करते, जिनके बिना मनुष्यों का काम न चल सकता हो। ऐसी अवस्था में उन श्रावको को, जो अपने सांसारिक कार्यों को करते हुए सत्य का पालन करना चाहते हैं; यदि स्थूल और सूक्ष्म झूठ के भेद न बतलाये गए, तो वे सत्य का पालन कैसे कर सकते हैं ? सूक्ष्म से तो गृहस्थ श्रावक सर्वथा बच नहीं सकते, और लौकिक मे जिस झूठ को झूठ कहा जाता है, उस झूठ का स्थूल झूठ में त्याग हो ही जाता है, इसलिए बुद्धिमान् लोग झूठ के भेद न बताने की बात का समर्थन नहीं कर सकते।

श्रावक के लिए इस स्थूल-मृपावाद विरमण, व्रत का धारण करना उचित और आवश्यक है। इस व्रत के धारण करने पर सांसारिक कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती, बल्कि सांसारिक मार्ग सरल हो जाता है। इस व्रत के पालने वालों पर लोग विश्वास करने लगते है तथा इस व्रत के धारण करने पर झूठ बोलने के पाप से भी बहुत अंश में बच जाते हैं।

सत्य से क्या लाभ है और झूठ से क्या हानि है, यह तो पहिले बहुत कुछ समझाया जा चुका है। अब भी यदि कोई यह कहे कि हमारा सांसारिक कार्य झूठ के बिना केवल सत्य से नहीं चल सकता, तो वह उसका भ्रम है। सत्य से काम नहीं चल सकता, झूठ से ही काम चलता है, यह सर्वथा गलतफहमी है। पहिले तो संसार में सम्भवतः कुछ लोग ऐसे भी मिलेंगे जो अपना काम सत्य से चलाते हैं, झूठ को पास भी नहीं आने देते। दूसरे यदि सत्य से काम नहीं चल सकता तो झूठ ही झूठ से भी नहीं चल सकता। कोई मनुष्य आजन्म झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा कर ले तो उसके कार्यों में बाधा न होते हुए वह निर्विघ्न अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रह सकता है, परन्तु यदि कोई सत्य न बोलने की प्रतिज्ञा करे, तो उसका कार्य कुछ घण्टे तक भी नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ लगी तो है भूख, परन्तु कहे, कि मेरा पेट भरा है, तो वह कब तक जीवित रह सकेगा? पेट दुख रहा है, लेकिन पैर का दर्द बतावे, तो अन्त में उसे सत्य बोलने के लिए बाध्य होना ही होगा। सारांश यह कि सत्य बोलने से किसी काम में बाधा नहीं आ सकती, बल्कि सत्य न बोलने से बाधा सम्भव है।

जो भारतवर्ष किसी समय सत्य के लिये प्रसिद्ध था, वही इस समय झूठ के लिये प्रसिद्ध सुना जाता है। पाश्चात्य देश वाले, जब

वे बहुत वर्ष पूर्व भारत की यात्रा करने आये थे, तब उन्होंने अपनी यात्रा-वृत्तान्त मे लिखा है कि "भारत के लोग भूल कर भी झूठ का प्रयोग नहीं करते और पराई वस्तु को मिट्टी के समान मानते हैं, अर्थात छूते तक नहीं। यही कारण है कि भारत के लोग अपने घरों मे ताले नहीं लगाते।" आज उसी देश के लोग अपने भारत यात्रा-वृत्तान्त में लिखते हैं कि "भारत के लोग झूठ बोलने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते और नैतिक-जीवन मे बहुत गिरे हुए हैं।" यद्यपि यह बात सर्वांश में सत्य नहीं है, क्योकि भारत में आज भी कई ऐसे-ऐसे महानुभाव हैं, जो कदापि झूठ नहीं बोलते, लेकिन पूर्वकाल मे जितने सत्यवादी थे, उतने इस काल में दिखाई नहीं देते, इसी से ऐसा कहने का मौका मिलता है। भारतीयों को अपना यह कलंक मिटा देना उचित है।

यदि मनुष्य झूठ को त्याग दे और सत्य को अपना ले, तो आज दिन अदालतों की सीढ़ियो पर उन्हें प्रायः नित्य-चक्कर काटना होता है, जिन वकीलों का घर अपनी गाढ़ी कमाई के पैसे से भरना होता है, उनकी खुशामद करनी होती है और अनेक कष्टों का सामना करना होता है, उन सब से बच जाय। सत्य के न होने से ही वकील, बैरिस्टर और अदालतों का काम चल रहा है। यदि सब लोग सत्य को अपना ध्येय बना लें, तो अदालतों और वकील, बैरिस्टर आदि को, जो इसी कमाई पर आनन्द उड़ाया करते हैं, दूसरा उद्योग करना पड़े। अर्थात् उनका काम बन्द हो जाय। यद्यपि वकीलों का काम सत्य के अनुसन्धान में न्यायाधीश को सहायता देने का है, परन्तु आजकल के बहुत से वकील झूठ को सत्य बनाने में ही अपना गौरव समझते हैं।

सत्य के विना, किसी मनुष्य का उत्थान नहीं हो सकता। सत्य और प्रिय-वचन, वाणी का तप कहलाता है। गीता में कहा है—

'अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ॥'

—अध्याय १७

जो सुनने वाले के मन में उद्वेग करने वाला न हो, सत्य और प्रिय हो, स्वाध्याय का अभ्यासी हो, वह भाषण वाणी का तप है।'

गीता में जो बात कही है, वही उत्तराध्ययन सूत्र में निम्न प्रकार से कही है—

'कोहे माणे य माया य, लोभे य उवउत्तया।
हासे भय मोहरिए, विकहासु तहेव य ॥
एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजओ।
असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा को छोड़कर, बुद्धिमान् को समय पर थोडी और ऐसी निर्दोष वाणी का प्रयोग करना चाहिये जिससे किसी को कष्ट न हो।

तात्पर्य यह है कि सत्य भी प्रिय हो। किसी को दुख देने वाले अप्रिय सत्य की सब ने निन्दा करके उसे त्याज्य बताया है। चाणक्य ने अपनी नीति मे कहा है—

'अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी, दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसंगः कुलहीनसेवा, चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम् ॥

'अत्यन्त क्रोध, कटु वचन, अपने जनों से वैर, नीच का संग और कुलहीन की सेवा, ये चिह्न नरकवासियों की देह में रहते हैं। और कहा है—

'परस्परस्य मर्माणि, ये भाषन्ते नराधमाः।
त एव विलयं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ॥'

'जो नराधम परस्पर अन्तरात्मा को दुःखदायक वचन-भाषण करते हैं, वे विमौटे मे पड़कर साँप की तरह निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं।'

मनु ने अपनी स्मृति मे कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ॥

'सत्य कहे और प्रिय कहे, अप्रिय सत्य भी न कहे।'

अप्रिय वचन की इस प्रकार सब धर्म के शास्त्रों ने निन्दा की है और सत्य होते हुए भी उस सत्य को, जिससे किसी को दुःख हो, झूठ ही के समान माना है। इसके विपरीत प्रिय वचन की प्रशंसा मे चाणक्य ने कहा है—

'पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाण—खण्डेषु, रत्नसंज्ञा विधीयते ॥'

'पृथ्वी पर तीन ही रत्न हैं—जल, अन्न और प्रिय वचन।' किन्तु मूर्खों ने पाषाण के टुकडे को रत्न संज्ञा दे रक्खी है।

'प्रियवाक्यप्रदानेन, सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं, वचने का दरिद्रता ॥'

'मधुर वचन के बोलने से सब जीव सन्तुष्ट होते हैं, इस कारण उसी का बोलना योग्य है। वचनों मे कुछ खर्च तो होता ही नहीं है, फिर इसमें दरिद्रता क्यो ?'

इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि किसी को प्रसन्न करने के लिये झूठमूठ ही उसकी प्रशंसा की जाय या और कोई बात सुनाई

जाय। झूठ की गणना तो सदैव झूठ में ही होती है। शास्त्र ने अप्रिय सत्य को त्याज्य तो अवश्य कहा है, किन्तु प्रिय झूठ को ग्राह्य नहीं कहा है।

इन सब बातों पर विचार करके श्रावक को इस दूसरे स्थूल मृषावाद विरमणव्रत को धारण करना उचित ही है। इस एक व्रत के धारण करने से श्रावक अनेकों पापों और दुर्व्यसनों से छूट सकता है। इसके लिए एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक धनी युवक कुसंगति में पड़ कर अनेक दुर्व्यसनों का शिकार हो गया। शराबपान वेश्यागमन आदि अनेक दोष उसमें थे। जब उसके माता-पिता समझाकर हार गये तो वे उस युवक को लेकर एक महात्मा की शरण गये। महात्मा ने बड़े प्यार से समझाकर उस युवक से कहा कि मेरे कहने से केवल एक बात छोड़ दे और वह यह कि झूठ मत बोला कर। युवक ने देखा कि इसमें कोई हर्ज नहीं है। इस बात को मान लेने से अपने कार्यों में तो किसी प्रकार की बाधा न होगी। यह विचार कर उसने झूठ बोलने की प्रतिज्ञा ले ली।

स्वभावानुसार वह शराब पीने चला, परन्तु तत्काल ही उसे विचार हुआ कि यदि मुझ से कोई पूछेगा 'तुम कहाँ गये थे?' तब मैं क्या उत्तर दूंगा? झूठ बोलने की तो प्रतिज्ञा कर ही चुका था, इसलिए शराब पीने नहीं गया और बैठा रहा। इसी प्रकार प्रतिज्ञा के भय से उसके सब दुर्व्यसन छूट गये और वह शुद्ध हो गया।

स्थूल झूठ के भेद

प्राणियों के हितचिन्तक शास्त्रकारो ने श्रावक के त्याग करने योग्य स्थूल-झूठ के भेद भी बतला दिये हैं। जिससे श्रावक लोग इस झूठ पर विशेप रूप से ध्यान रख सके। क्योकि संसार मे विशेषतः इन्हीं कारणों से झूठ बोला जाता है। शास्त्र मे कहा है—

"थूलगं मुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ से य मुसावाए पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा-कन्नालीए गवालीए मोमालीए नासावहारे कूडसक्खिज्जे ॥"

अर्थात्— श्रमणोपासक स्थूल-झूठ का त्याग करे। वे स्थूल-झूठ पाँच प्रकार के है—कन्या के विपय मे, गौ के विपय मे, भूमि के विपय में, धरोहर रक्खी हुई वस्तु के विपय में और झूठी साक्षी देना।

इस पाँच प्रकार के स्थूल-झूठ के विपय मे पृथक् २ व्याख्या की जाती है।

१—कन्नालिए अर्थात् कन्या के विषय में झूठ।

यहाँ शंका हो सकती है कि 'कन्या ही के लिए झूठ बोलने का निषेध क्यों किया ? क्या पुरुष, बालक या स्त्री के विषय में झूठ बोलना त्याज्य नहीं है ? ऐसी शंका करने वालों के लिए ही टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि –

"तेन सर्वमनुष्यजातिविषयमलीकमुपलक्षितम् ।"

अर्थात्– कन्या का नाम लेकर मनुष्यमात्र के लिए झूठ न बोलने को कहा गया है।

यहाँ कन्या के विषय मे जो झूठ बोलने का निषेध है, उसमे उपलक्षण से मनुष्य जाति के विषय में झूठ बोलने का निषेध समझना चाहिए। मनुष्य मात्र के लिए झूठ न बोलने का त्याग न लिखकर कन्या के ही लिए यों लिखा है कि एक तो कन्या के विषय मे झूठ बोलना संसार मे सब से अधिक निन्द्य समझा जाता है; दूसरे कन्या से ही मनुष्य की उत्पत्ति है। जब जड के विषय मे झूठ बोलने का त्याग होगा, तब शाखा पल्लव आदि के विषय में झूठ बोलने का त्याग आप ही हो जायगा। इसलिए कन्या के विषय में झूठ का त्याग करना है। कन्या के विषय मे झूठ त्याग करने का अर्थ यह नहीं है, कि अन्य मनुष्य के विषय में झूठ बोला जाय, वरन् यह अर्थ है कि कन्या के साथ ही मनुष्य-मात्र के विषय मे झूठ बोलने का त्याग है।

मनुष्य मे कन्या को प्रधान माना गया है। पाश्चात्य देशों मे भी यह नियम है कि जहाज के तूफान आदि संकट-जनक स्थिति मे होने पर पहले कन्याओं की, पश्चात् बालकों की, स्त्रियों की और फिर

पुरुषो की रक्षा का क्रमशः ध्यान रक्खा जाता है। इसका कारण यही है कि कन्या, पुरुष रत्न की खान और भावी संतान की माता है।

विपत्ति मे फंसे हुए जहाज से कन्या का उद्धार पहिले करने का अर्थ यह नहीं है कि अन्य पुरुषों की रक्षा ही न की जाय, इसी तरह यहाँ कन्नालिए का अर्थ यह नहीं है कि केवल कन्या ही के विषय मे झूठ न बोला जाय। संकटापन्न जहाज से जैसे कन्या को आदि लेकर सब मनुष्यों की रक्षा की जाती है, ऐसे ही कन्या को आदि लेकर मनुष्य-मात्र के विषय में झूठ का त्याग करना ऐसी शास्त्राज्ञा है।

जो मनुष्य कन्या के विषय में झूठ बोलता है, वह मातृ-पक्ष का घोर विरोध करता है! इस महा पाप से बचने के लिये ही शास्त्र में कन्या का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए कहा है कि, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से कन्या के लिए झूठ न बोले। जो इस प्रकार है—

द्रव्य से तात्पर्य यह है कि कन्या रूपवती हो, सुन्दर हो, अंग उपांग में किसी प्रकार का दोष न हो, उच्च वर्ग की हो, परन्तु स्वार्थ वश या और किसी कारण से उसे कुरूपा, अंगहीना आदि, वास्तव मे जो है उसके सर्वथा या न्यूनाधिक विपरीत बतला देना; या कन्या में किसी प्रकार उक्त दोष होते हुए भी उन्हे प्रकट न करके उसे निर्दोष एवं सुरूपा बताना।

क्षेत्र से मतलब यह है कि, कन्या है तो किसी दूसरे प्रान्त या गांव की और बतलाना किसी दूसरे ही प्रान्त या गांव की।

काल से यह अर्थ है कि कि वास्तव में कन्या जिस उम्र की हो, उससे कम या अधिक बताना।

भाव से तात्पर्य यह कि, चतुर कन्या को मूर्ख या मूर्ख को चतुर बताना, कन्या मे जो गुण या दुर्गुण हैं, उन्हे छिपाना या न्यूनाधिक बताना।

इसी तरह कन्या के लिये वर के विषय मे भी उक्त प्रकार का उलट फेर करना, कन्या के लिये झूठ बोलना है। जैसे वर बुड्ढा, कुरूप, मूर्ख और किसी अन्य देश का है, लेकिन उसे युवक सुन्दर और विद्वान् बतलाना। इसी तरह सभी मनुष्यों के विषय में समझ लेना।

सारांश यह है कि, कन्या से जो बात सम्बन्ध रखती है, उसमे किसी प्रकार का और किसी कारण से अयथार्थ भाषण करना, कन्या के विषय में झूठ बोलना कहलाता है।

आज, समाज में जो विषमता है, उसके कारणों में से एक कारण कन्या के लिए झूठ बोलना भी है। विशेषतः इसी कारण विधवाओं की इतनी संख्या बढ़ रही है और दम्पती मे असन्तुष्टता रहती है। समाज द्वारा कन्या पर और क्या-क्या अत्याचार होते हैं, यह एक स्वतन्त्र विषय है, जिसे यहाँ पर कहना अप्रासांगिक होगा।

सम्भवतः अब यह प्रश्न होगा कि-अंगहीन, कुरूपा आदि सदोष कन्या कुआंरी तो रह नहीं सकती, ऐसी अवस्था मे बिना झूठ बोले काम कैसे चले ? अर्थात् किसी प्रकार झूठ बोलकर भी उसका विवाह तो करना ही पडता है। लेकिन ऐसी शंका करने वाले लोग भ्रम में पड़े हुए हैं। संसार में कन्या ही अंगहीन आदि दोष युक्त नहीं होती, वल्कि पुरुष भी होते ही हैं। जब कन्या कुआँरी नहीं रह सकती, तो क्या ऐसा पुरुष यह नहीं कह सकता कि 'मैं कुआँरा क्यों रहूँ ?' ऐसी अवस्था में उचित तो यह है कि, सत्य मार्ग का अवलम्बन लेकर झूठ के पाप से बचे।

२–गवालिए अर्थात् गौ के विषय में झूठ

गौ के विषय मे झूठ न बोलने के लिये भी कन्या की ही तरह यह प्रश्न होता है कि 'क्या गौ के सिवाय अन्य पशुओं के विषय में झूठ बोलना मना नहीं है ? इस प्रश्न का उत्तर भी वही है, जो कन्या के विषय मे दिया गया है। अर्थात् जिस प्रकार मनुष्यो में कन्या उत्तम है, उसी तरह पशुओ में गौ प्रधान मानी गई है। गौ के विषय मे झूठ बोलने का त्याग, सब पशुओं के विषय में झूठ बोलने का त्याग समझना चाहिए।

गौ पशुओं में सर्वोत्तम इसलिए मानी गई है, क्योकि मनुष्यों के लिए गौ ही विशेष रूप से आधार है। गाय की सहायता के बिना गृहस्थी नहीं निभ सकती। सूखे तृण खाकर बदले में घी, दूध आदि देने वाला, गौ के सिवाय दूसरा कोई पशु नहीं है। कृषि में भी विशेषतया गौ की ही सहायता होती है, जैसे हल खींचने लिए बछड़े देना, खाद के लिए गोबर देना आदि। जैन समाज या भारतवर्ष ने ही गौ को सब पशुओं में प्रधान माना है, ऐसा नहीं बल्कि यूरोपियनों ने भी गौ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। आनन्द और कामदेव ऐसे उत्कृष्ट श्रावक, गौओं को इन्हीं कारणों से पालते थे और श्रीकृष्ण ने भी इन्हीं बातो को सिद्ध करने के लिये गौएँ चराई थी, कि संसार में ऋद्धि-सिद्धि की दाता गौ ही है। गौ की महत्ता बताना यह भी एक स्वतन्त्र विषय है, इसलिए यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त है।

सारांश यह है कि गौ सर्वोत्कृष्ट पशु है। इसलिये इसे आदि लेकर सब पशुओ के लिए झूठ न बोलने का शास्त्र का उपदेश है।

कन्या के समान गौ के लिये भी, द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव मे त्याग करना आवश्यक है। जैसे अच्छी या बुरी गाय को बुरी या

अच्छी बताना, कम या ज्यादा दूध देने वाली गाय को ज्यादा या कम दूध देने वाली बताना, एक देश की गाय को दूसरे देश की गाय बताना और सीधी या चिट्टी मारने वाली गाय को मारने वाली या सीधी बताना आदि ।

अन्य पशुओं के विषय मे भी यही बात है। अर्थात् गौ के समान ही झूठ का त्याग समझना चाहिये।

३—भोमालिए अर्थात् भूमि के विषय में झूठ।

भूमि विषयक झूठ के त्याग में भूमि के साथ ही उन सब वस्तुओं के विषय मे झूठ बोलने का त्याग आजाता है, जिनकी उत्पत्ति भूमि से है। फिर चाहे वह सचेतन हों या अचेतन। जैसे फल वृक्ष आदि सचेतन और प्राय: सोना, चांदी, पत्थर, मिट्टी, घर आदि अचेतन। इसीलिये भूमि के साथ ही, भूमि से उत्पन्न होने वाली और उससे बनी हुई वस्तु मकान, नोहरा महलादि सम्बन्धी झूठ का भी त्याग समझना चाहिए। क्योकि भूमि आधार है और उस पर के या उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ आधेय हैं। आधार को ग्रहण करने से आधेय का भी ग्रहण स्वयं हो जाता है।

इसमें भी कन्या और गौ विषयक झूठ त्याग के समान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विचार से त्याग करना आवश्यक है।

४—नासावहारे अर्थात् धरोहर के विषय में झूठ।

किसी की रखी हुई धरोहर को न लौटाने या बिना रखे ही माँगने के लिए जो मिथ्या भाषण किया जाता है, वह धरोहर विषयक झूठ कहलाता है। यद्यपि इसकी गणना चोरी मे हो सकती है और मनु ने चोरी में ही माना है. जैसे—

"यो निक्षेपं नार्पयति, यश्चानिक्षिप्य याचते ।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥

'जो रखी हुई धरोहर को न देवे और जो विना रक्खे मांगे वे दोनों चोर के समान ही दण्डनीय हैं।

लेकिन जैन शास्त्रो ने, क्योंकि यह कार्य मुख्यतया झूठ बोलने से ही होता है, इस कारण इसे झूठ में माना है। गौण रूप मे चोरी भी है।

इसमें भी पूर्व वर्णनानुसार द्रव्य क्षेत्र, आदि के विचार मे त्याग करना आवश्यक है।

५–कूडसक्खिजे अर्थात् झूठी साक्षी।

किसी दूसरे के या अपने लाभ के लिये अथवा दूसरे की हानि के लिए न्यायाधीश पंचायत संघ आदि के सन्मुख जो मिथ्या भाषण किया जाता है वह मिथ्या भाषण झूठी साक्षी कहलाती है। झूठी साक्षी देना निन्द्य कार्य और घोर पाप है। मनु ने झूठी साक्षी देने वाले के विषय में कहा है—

"वाच्यार्था निहताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तास्तु यः स्तेनयेद्वाच्यः स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥"

शब्दों ही मे वाच्य, भाव से नियत हैं और शब्दो का मूल वाणी है, क्योंकि सब बातें शब्दों ही से जानकर की जाती है। जो वाणी को चुराता है अर्थात् अन्यथा कहता है, वह सब भाँति की चोरी करने वाला होता है।

"ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका, ये च स्त्रीबालघातिनः ।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य, ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥

ब्राह्मण, स्त्री और बालक की हत्या करने वाले को, मित्रद्रोही तथा कृतघ्नी को जो लोक मिलते हैं वे ही लोक झूठी गवाही देने वाले को मिलते हैं। यहाँ लोक शब्द से मतलब है गति का।

तात्पर्य यह है कि झूठी साक्षी देना मनु ने भी महान् पाप माना है।

जिस मनुष्य पर जनता विश्वास करती है, वह यदि किसी के सच्चे सोने को नकली बतलावे, अथवा किसी के नकली सोने को सच्चा बनाकर खरीदवावे, शास्त्र कहता है कि ऐसा करने वाला सोने के वर्तमान और भावी स्वामी को अन्तराय (दुःख) देने का अपराधी है। क्योंकि ऐसा होने पर उस असली सोने के स्वामी तथा नकली सोने के खरीददार की आत्मा को बड़ी चोट पहुँचती है और प्रायः या तो वे उस ऐसा बताने वाले को हानि पहुँचाने की चेष्टा करते हैं, या स्वयं धसका खाकर मर जाते हैं। इसके सिवाय इस प्रकार झूठ बताने वाला अपनी प्रामाणिकता को भी तिलांजलि देता है। इसके विरुद्ध यथार्थ बात कहने पर न तो प्रामाणिकता को ही धक्का लगता है, न उपरोक्त दोष की ही सम्भावना रहती है। बल्कि उसकी प्रामाणिकता बढ़ जाती है। यही बात झूठी साक्षी देने के विषय में भी है।

झूठी साक्षी में भी द्रव्य क्षेत्र आदि के विचार से त्याग करना आवश्यक है।

यद्यपि धरोहर के विषय मे झूठ और झूठी साक्षी, पहिले तीन प्रकार (कन्नालिए, गवालिए, भोमलिए) के झूठ के अन्तर्गत आ जाते है, लेकिन इन्हे विशेष निंद्य समझकर शास्त्रकारो ने इनका वर्णन पृथक् पृथक् किया है। श्रावक को, वर्णन किये हुए इन पाँचो प्रकार के स्थूल मृषावाद को समझकर उनका त्याग करना और स्थूल मृषावाद विरमण व्रत को धारण करना उचित है। इस दूसरे व्रत के अतिचारो का वर्णन आगे किया जाता है।
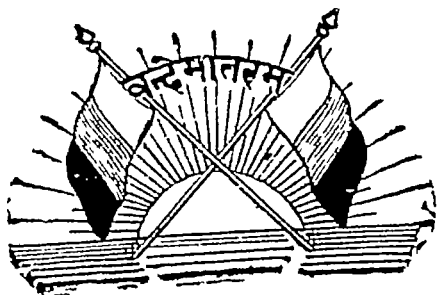
सत्य व्रत के अतिचार ।

श्रावक के स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के पांच अतिचार हैं। आवश्यक सूत्र में श्रावक को स्थूल मृषावाद का त्याग बतलाने के साथ ही कहा है कि—

'थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा । तंजहा-सहस्सब्भक्खाणे रहस्स-ब्भक्खाणे सदारमंतभेए मोसुवएसे कूडलेहकरणे ।'

'स्थूल-मृषावाद विरमण व्रत के, जिसको श्रावक के लिए धारण करने का विधान है, पांच अतिचार हैं। इन पाँचों के नाम (१) सहस्सब्भक्खाणे, (२) रहस्सब्भक्खाणे, (३) सदारमंतभेए, (४) मोसुवएसे (५) कूडलेहकरणे है। ये अतिचार श्रावक के जानने योग्य हैं, लेकिन आचरण करने योग्य नहीं हैं। इसीलिए श्रावक को इनसे बचना उचित है।'

शास्त्रकार ने किसी त्याज्य कार्य के करने का विचार लाने को अतिक्रम, कार्य-पूर्ति के लिए साधन एकत्रित करने को व्यतिक्रम

कार्य की बिल्कुल तैयारी हो लेकिन अभी किया नहीं है उसे अतिचार, और पूर्ण कर डालने को अनाचार कहा है। अर्थात् व्रत के उल्लंघन करने की चार कक्षाएँ हैं। उल्लंघन का प्रारम्भ अतिक्रम से होता है और अन्त अनाचार की शक्ल में होता है। यथा-कोई मनुष्य असत्य बोलने के लिये उद्यत हुआ। उसका जैसे ही असत्य बोलने का विचार हुआ अतिक्रम हो गया, यानि उसने व्रत की पहली मर्यादा को तोड़ डाला। अर्थात् किसी व्रत को भंग करने के संकल्प का नाम अतिक्रम है। पश्चात् संकल्प को पूरा करने का जब प्रयत्न करता है, यानी झूठ बोलने के साधन जुटाता है, उसका नाम 'व्यतिक्रम' है। ऐसा करना व्रत की दूसरी मर्यादा का उल्लंघन करना है। फिर व्रत की अपेक्षा रखता हुआ, कुछ अंश में व्रत का नाश करता है, उसका नाम 'अतिचार' है। शास्त्र में जहाँ भी अतिचार का उल्लेख है वहाँ सब जगह व्रत की तीसरी मर्यादा का अर्थात् मध्यम श्रेणी का उपदेश किया है। लेकिन व्रत की अपेक्षा न करके संकल्परूप भंग किया जाय तो वह अनाचार हो जाता है।

इस दूसरे व्रत के ऊपर वर्णन किये हुए पाँच अतिचार हैं। जिनके विषय मे पृथक् पृथक् व्याख्या की जाती है।

१—सहस्सब्भक्खाणे।

बिना विचार किये एकदम किसी को मिथ्या दोष लगा देना, जैसे तू चोर है, या तू जार है, इत्यादि, यह पहला सहसा अभ्याख्यान नाम का अतिचार है।

इस अतिचार के विषय मे जितनी भी व्याख्या की जाय, कम है, क्योंकि आजकल बिना विचारे एकदम किसी पर दोषारोपण कर देना सहज कार्य बन गया है। दोष की सत्यता पर विचार किये बिना ही किसी पर दोष लगा देना अत्यन्त अनुचित है। लोग यदि इस अतिचार का अर्थ भलीभाँति समझ लेते तो यह दुर्गुण दिखाई

न देता। अब भी यदि इस पर विचार किया जाय तो दोष मिट सकता है।

आज के लोग और किसी बात मे तो चाहे निरंकुश न रहते हो, परन्तु जीभ पर अंकुश रखने का प्रयत्न शायद ही करते होंगे। सम्भवतः इसी कारण किसी से कोई दोष हुआ हो या न हुआ हो उस पर सहसा दोषारोपण कर दिया जाता है। उचित तो यह है कि यदि किसी मे कोई दुर्गुण दिखाई भी पड़े तो नम्रता पूर्वक उसे सूचित करके भविष्य के लिये सावधान कर दिया जाय। लेकिन इसके बाद में नीचों की तरह दूसरे के दोषो का ढिंढोरा पीटने मे प्राय. लोग अपना गौरव समझते हैं। आज इस दुर्गुण की सहायता के लिए साधन भी खूब मिल जाते हैं। दो पैसे के कार्ड या समाचार पत्र द्वारा किसी के छोटे या निर्मूल दोष को संसार के सन्मुख बढ़ा कर रख देना सहज हो गया है।

जिनका कार्य अधर्म पर चलते हुए किसी मनुष्य को अपनी सत्ता से धर्म पर लाने का और निष्पक्ष होकर न्याय देने का था, उन पंचायतो को भी आज, पक्षपात पूर्ण न्याय करते और किसी के द्वारा लगाये गये दोष की सत्यता का विचार किये बिना ही, एकदम उसको अपराधी मान लेते सुना जाता है। सम्भवतः उन्हे भी इसी प्रकार से खाने आदि का लोभ, या दूसरे को नीचा दिखाने का विचार रहता होगा। लेकिन यह कार्य पंचायतो के लिये अशोभनीय है।

पंचायतो के लिये ही नहीं, किन्तु घर के लोगो के लिये भी यह सुनाई पड़ता है कि प्रायः घर के ही लोग, एक दूसरे को झूठे दोष लगाकर नीचा दिखाने का उपाय किया करते हैं। यह कितना नीच कार्य है।

व्रतधारी श्रावकों को इस अतिचार से अवश्य ही बचना चाहिये। सब संसार ही ऐसा करता है, यह विचारना उचित नहीं है। ससार चाहे सुधरे या न सुधरे, आप अपने कर्त्तव्य का पालन करते जाइये। जिस प्रकार जूता पहिनने वाला मनुष्य पृथ्वी पर कॉटे का अस्तित्व देखना अनावश्यक समझता है, इसी प्रकार आप भी विचार लीजिये, कि मैंने व्रत ग्रहण किया है। इसलिये लोग चाहे खयाल रखें या न रखें, मुझे तो खयाल रखकर, इस दोप से बचना ही चाहिये। अर्थात् बिना सोचे समझे अन्य लोगों की तरह किसी के सिर एकदम दोप न मढ़ देना चाहिये।

तलवार का घाव अच्छा हो सकता है, लेकिन झूठे कलंक का भयंकर घाव उपाय करने पर भी अच्छा होना कठिन हो जाता है। इसलिये किसी को झूठा कलंक लगाने का घृणित कार्य कभी न करना चाहिये।

२—रहस्सऽभक्खाणे।

एकान्त में बैठे किसी विषय का विचार करते हुए मनुष्यो को देखकर उनकी बात के विषय में असत्य अनुमान बांध कर कहना कि ये राज्यविरोधादि विपय की बातचीत करते होंगे, 'रहस्सऽभक्खाणे' है।

आज की जनता मे उक्त दोप बहुत देखा जाता है। कोई स्त्री पुरुप चाहे वे आपस में बहिन भाई ही हों, यदि एकान्त में बात करते हो तो लोग बिना विचार किये ही केवल बाते करते देखकर उन पर सन्देह करने तथा वैसे लोगों के आगे प्रकट करने में प्रायः नहीं हिचकिचाते और कलंक लगाने लगते हैं। लेकिन विचारशील मनुष्य को इस दुर्गुण से दूर रहना चाहिये।

इस दूसरे अतिचार और पहिले अतिचार में यह अन्तर है कि पहिले अतिचार में एकदम दोषारोपण किया जाता है और इस दूसरे अतिचार मे किसी प्रकार का सन्देह पाकर दोषारोपण किया जाता है।

सन्देह के आधार पर कलंक लगाने का दोष पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों में विशेष देखा जाता है। उनमे बहुतों को कोई कार्य तो रहता नहीं, इसलिये जरासी बात को चाहे वह सत्य हो या झूठ, विशेष समय तक घोटती रहती हैं।

व्रतधारी श्रावक को इस प्रकार किसी को एकान्त मे बात करते देखकर सन्देह लाना और दोष लगाना उचित नही है।

३—सदारमन्तभेए।

अपनी स्त्री ने जो कुछ मर्म-भरी बात कही हो, जिसे छिपाने की आवश्यकता है या स्वयं ने उससे जो कुछ कहा हो, दूसरे के आगे उसका प्रकाश करना 'सदारमंतभेय' कहा जाता है। ऐसा करने से लज्जा-वश उस स्त्री का, अपनी या दूसरे की हत्या कर देना आदि अनर्थ-परम्परा का होना सम्भव है। इसलिये सत्य होने पर भी ऐसा करना अतिचार है।

आज के पुरुष स्त्रियो को कुछ समझते ही नहीं है, बल्कि यहाँ तक तुच्छ समझते हैं कि स्त्री को पैर की जूती कहने तक में नहीं हिचकिचाते। इस कारण स्त्रियो से किसी प्रकार की सम्मति लेना तो दूर रहा, उनकी गोपनीय बातो को भी प्रकट करने में कुछ विचार नहीं रखते। लेकिन ऐसा समझना पुरुषों की उद्दण्डता के सिवाय कुछ नहीं कहला सकता। स्त्रियो को इस दर्जे तक तुच्छ समझने वाला

स्वयं तुच्छ-बुद्धि का है, वह इस बात को नहीं विचारता, कि यदि स्त्री पैर की जूती है तो उससे हथलेवा जोड़ते समय मित्र के नाते जोड़ा या जूती से ?

स्त्रियों को इस प्रकार समझ लेने से ही आज भारत के प्राचीन गौरव से लोग हाथ धो बैठे हैं। जिस समय भारत उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा था उस समय का इतिहास देखने से पता लग सकता है कि स्त्रियों को किस उच्च दृष्टि से देखा जाता था और समाज में उनका कितना ऊँचा स्थान था। उसके बाद जैसे जैसे पुरुष-स्त्रियों का सन्मान कम करते गये, वैसे ही वैसे वे स्वयं अपने सन्मान को भी नष्ट करते गये। राष्ट्र में नवीन चैतन्य आना स्त्रियों की उन्नति पर निर्भर है।

कई लोगों ने स्त्री-समाज को पंगु समझ रखा है, या यों कहो कि पंगु बना रखा है। यही कारण है कि यहाँ के सुधार आन्दोलनों में पूरी सफलता नहीं होती। यदि स्त्रियों को इस प्रकार तुच्छ न समझकर, उन्हें उन्नत बना दिया जाय, तो जो सुधार-आन्दोलन आज अनेक प्रयत्न करने पर भी असफल रहते हैं, उन्हें असफल होने का सम्भवतः कोई कारण ही न रहे।

स्त्रियो की शक्ति कम नहीं है। जैन-शास्त्र में वर्णन है, कि स्त्रियों की स्तुति स्वयं इन्द्रों ने की है और उन्हें साक्षात् देवी कहकर त्रिलोक में उत्तम बतलाया है। त्रिलोकीनाथ को जन्म देने वाली माता स्त्री ही है। भगवान् महावीर जैसे को उत्पन्न करने का सौभाग्य इन्हीं को प्राप्त है। मनु ने भी कहा है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।'

जहाँ पर स्त्रियों का सत्कार होता है, वहाँ देवता आकर रमण करते हैं अर्थात् वह घर स्वर्ग बन जाता है।

जिन स्त्रियों का इतना महत्त्व है, उन्हें तुच्छ समझ कर अपमानित करने से पुरुष सुखी कैसे बन सकते हैं ? सुखी होना तो स्त्रियों की उन्नति और उनके सत्कार पर ही निर्भर है। चाणक्य ने कहा है-

'दाम्पत्यकलहो नास्ति तत्र श्रीः स्वयमागता।'

जहाँ दम्पती [पति पत्नी] में कलह नहीं रहता है, यानी एक दूसरे को सन्मानपूर्ण दृष्टि से देखते हैं, अपमानित नहीं करते, वहाँ लक्ष्मी आप ही आकर विराजमान होती है।

स्त्रियों की उच्चता और लज्जा को दृष्टि में रखकर ही शास्त्रकारों ने उनकी किसी गोपनीय बात को दूसरे के सामने प्रकट करने से पुरुषों को मना किया है। इसके लिये चाणक्य ने भी अपनी नीति में कहा है—

'अर्थनाशं मनस्तापं, गृहिणीचरितानि च।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत्॥'

'धन का नाश; मन का ताप, (दुःख) गृहिणी का चरित्र यानी उनके विषय की बात, अपनी ठगाई की बात और अपमान बुद्धिमान् किसी के आगे प्रकट न करे।'

अपनी स्त्री के विषय की सच्ची गुप्त बात को भी प्रकट करना दूसरे व्रत का अतिचार है, इसलिए बुद्धिमान् इससे बचें।

इस अतिचार में पुरुष को लक्ष्य करके स्त्रियों के विषय में जो कुछ कहा गया है, वही बातें स्त्रियों के विषय में समझनी चाहिये। और उन्हें इस अतिचार का नाम 'सभत्तारमंतभेए' समझना चाहिये। स्त्रियों का भी कर्त्तव्य है कि वे पुरुष से जो कुछ गुप्त बात कहें, या

पुरुष उनसे जो गुप्त बात कहे, उन बातों को किसी के आगे प्रकाशित न करें। ऐसा करने पर उनके लिए भी यही अतिचार हो जाता है।

४–मोसुवएसे।

दूसरे को असत्य का उपदेश करना, मृषोपदेश कहा जाता है। यदि अचानक असावधानी से मिथ्या उपदेश दे दिया जाय, अथवा अपने पास सम्मति पूछने के लिए आये हुए को मिथ्या उपदेश किया जाय; जैसे—मैंने अमुक समय पर इस प्रकार मिथ्या भाषण द्वारा अमुक कार्य किया था, इत्यादि प्रकार से किसी को उपदेश किया जाय तो अतिचार है। यद्यपि ऐसा करने वाला चाहे मिथ्या-भाषण न कर रहा हो, तथापि वह दूसरे को मिथ्या-भाषण में प्रवृत्त करता है, अतः यह अतिचार है।

आजकल के लोगों में दूसरे को मिथ्या उपदेश देने की प्रवृत्ति ज्यादा नजर आती है। यदि स्पष्ट रीति से मिथ्या उपदेश न देंगे तो बात को इस प्रकार घुमाकर कहेंगे कि, सुनने वाले के समीप वह उपदेश का कार्य करे। इस प्रकार उपदेश देने वाले के लिये सुनने वाला जो समझता है कि ये अनुभवी हैं और जो कुछ कह रहे हैं; वह मेरे हित के लिये। लेकिन यह उसका उपदेश भ्रम मात्र होता है। लोग इस बात को नहीं विचारते, कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसका प्रभाव सुनने वाले पर कैसा पड़ेगा और उसका परिणाम क्या होगा! उनका ध्येय तो कुछ और ही रहता है। जैसे एक आदमी ने दूसरे से कहा कि—'मेरा पेट दुखा करता है, सिर दुखा करता है, या भोजन हजम नहीं होता।' सुनने वाले ने इसके उत्तर में कहा कि—'ऐसा ही हाल मेरा भी रहा करता था, लेकिन जब से मैंने बीड़ी, सिगरेट, गाँजा या चाय पीना प्रारम्भ किया, तब से यह रोग चला गया।' यद्यपि ऐसा कहने वाले ने दुर्व्यसनों का स्पष्ट उपदेश नहीं दिया,

तथापि उसके कहने का तात्पर्य यही है कि वह भी इन्हे पीये। यदि ऐसा करने वाला इन्हे पीने के लिये स्पष्ट कहता, तब तो इस उपदेश की गणना अतिचार में न होकर अनाचार में होती, लेकिन उसने स्पष्ट नहीं कहा, इसलिये अतिचार है।

यह बात तो इस अतिचार को समझाने मात्र के लिये कही गई है। लोग ऐसा ही नहीं, बल्कि ऐसे ऐसे मिथ्या उपदेश दिया करते है कि सुनने वाला, महान् अन्धकार में जा गिरता है, जहाँ से उसे निकालना कठिन हो जाता है। जैसे-किसी के 'मैं गरीब हूँ' यह कहने पर या कहने के प्रथम ही उससे इस बात का कहा जाना कि—मैं भी ऐसा ही गरीब था, लेकिन अमुक धर्म को छोड़कर अमुक धर्म में चले जाने से, झूठ बोलने से या जुआ खेलने से मालदार हो गया। इस प्रकार के मिथ्या-उपदेश द्वारा अपनी संख्या बढ़ाने के लिये या और किसी कारण से उसे सत्य से दूर करके असत्य के गड्ढे मे गिरा दिया जाता है।

अहम्मन्यता के लिये भी बहुत लोग ऐसे ही उपदेश देकर लोगो को अपने चंगुल में फँसाये रखना चाहते हैं। ऐसा करने वाले स्वार्थ वश कृत्याकृत्य का भी विचार नहीं करते। लेकिन मिथ्या उपदेश का प्रभाव सदा नहीं रहता कभी न कभी मिटता ही है। फिर जिसे भी यह मालूम हो जाता है- कि इन उपदेशों से मुझे भ्रम में डाला गया था, वह उसी क्षण से उस (इस प्रकार भ्रम में डालने वाले) को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है।

ऐसा उपदेश, जो सत्य नहीं है और जिसके सुनने से सुनने वाला सत्य से पतित होता है, या बुरे कार्य मे प्रवृत्त होता है, 'मोसुवएसे' है। श्रावक को इस अतिचार से बचने के साथ ही ऐसे उपदेशकों पर विश्वास करने से भी बचना चाहिए।

५-कूडलेहकरणे ।

'जाली लेख, किसी दूसरे के अक्षर सरीखे अक्षर, नकली छाप मुहर आदि बनाना 'कूटलेखकरण' है ।

वे बातें, जिनकी गणना झूठ मे है, लेखनकला द्वारा कार्य रूप में परिणत करना 'कूटलेखकरण' अर्थात झूठा—लेख लिखना कहलाती है । झूठे दस्तावेज लिखना, समाचार पत्रो में झूठी खबरें देना, खोटे सिक्के, नोट हुण्डी आदि की रचना करना आदि आदि बातें यदि असावधानी से हो जायँ तो अतिचार है, अन्यथा अनाचार हैं । मान लीजिए —किसी ने कहा कि अमुक बात ऐसी है; यद्यपि उस बात के सत्य होने का विश्वास नहीं है, लेकिन इस ऐसा कहने वाले के विश्वास पर इस झूठी बात को समाचार पत्र में छपवा दिया जाय तो अतिचार है । किन्तु यह मालूम होते हुए भी कि यह बात असत्य है, यदि ऐसा किया तो अनाचार है । इसी प्रकार दस्तावेज आदि के विषय मे भी समझना चाहिए ।

आजकल झूठे लेख लिखना, झूठी दस्तावेज बनाना झूठे सिक्के आदि बनाना विशेष सुनाई देता है । यदि विचारा जाय तो इसका मूल कारण लोभ के सिवाय कुछ न होगा । लोभ के वश होकर ही लोग सत्यासत्य का विचार नही करते और इसीसे ऐसा करने मे नहीं हिचकचाते । जाली दस्तावेज बनाकर, एक के दो या और ज्यादा लिख-लिखकर गरीबो के गले काटने को ही, बहुधा आजकल के लोगो ने व्यापार मान रखा है । ऐसा करने वाले इस बात को नहीं विचारते कि इस तरह से द्रव्योपार्जन करके हम कितने दिन आनन्द उड़ा सकते है । और ऐसा आनन्द उडाने का परिणाम क्या होगा ? ऐसा करने से ससार मे तो अपकीर्ति होती ही है लेकिन उस

लोक में भी, जहाँ कि अन्त समय तक सब को जाना पड़ता है, सुख प्राप्त नहीं होता, किन्तु भयंकर कष्ट प्राप्त होना स्वाभाविक है। ऐसे भाइयों को यह ध्यान मे रखना चाहिए है, कि सत्य के व्यापार से यदि लाभ कम भी हुआ तो वह उतना ही लाभ सांसारिक कार्य के चलाने के लिये पर्याप्त होने के साथ ही इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख-दाता होगा, लेकिन असत्य के व्यापार का ज्यादा लाभ भी दोनो ही जगह दुःखप्रद सिद्ध होगा।

किसी के विरुद्ध, समाचार पत्रों मे झूठे लेख लिखने, हेण्डबिल छपवाने, आदि का तो आजकल फैशन सा हो गया है। प्रायः लोग इसी में अपनी विद्वत्ता समझने लगे हैं। ऐसा करने वाले इस बात को बिल्कुल भूल जाते हैं कि इस असत्य कार्य का उस लोक में क्या परिणाम होगा। उस लोक को भूलने के साथ ही उन्हे यह भी ध्यान नही रहता कि हमारे इस झूठ के खुलने पर इस लोक मे भी कैसे निन्द्य समझे जाएँगे और लोगों का हम पर कितना अविश्वास हो जायगा।

इस अतिचार को बताने का तात्पर्य यह है कि उस लेखन कार्य से जो झूठ की परिभाषा मे आता है-बचा जाय। किसी असत्य कार्य को असावधानी या झूठ से कर डालने मे भी अतिचार है। अतएव प्रत्येक कार्य मे सावधानी रखने की आवश्यकता है।

उपसंहार ।

केवल श्रावकों का ही नहीं, मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वे मन, वचन, और कार्य से सत्य का पालन करे। पशुओ में भी सत्य वर्तमान है, फिर मनुष्यसमाज सत्य से वंचित रहे, यह कितना बुरा है। इसलिये मनुष्य-मात्र को सत्य का पालन करना उचित है।

श्रावकों के लिये इस व्रत का धारण करना अत्यावश्यक है। इस व्रत को धारण करने से, वे झूठ के भयंकर पाप से बचे रह सकते हैं। विना सत्य को अपनाये, धर्म का पालन उचित रूप से नहीं हो सकता।

स्थूल-झूठ के जो विभाग बतलाये हैं, वे श्रावक के लिये सर्वथा त्याज्य हैं। इन विभागो के बताने का तात्पर्य यह है कि गृहस्थी से प्राय: इन्हीं कारणों से झूठ बोला जाता है। इनका त्याग करने पर स्थूल-झूठ मात्र का त्याग हो जाता है और लौकिक व्यवहार मे वह किसी प्रकार का असत्याचारी नही रहता।

अतिचारों का उल्लेख, शास्त्रकारो ने इस अभिप्राय से किया है कि गृहस्थी में इन बातो का कार्य विशेष पड़ता है और असावधानी या भूल से इन कार्यों का हो जाना सम्भव है। इसलिये श्रावक को अपने व्रत मे सावधानी रखने के वास्ते ही, अतिचारों का रूप बतलाया गया है। श्रावकों को अतिचार रहित व्रत पालन करने और अतिचार न हो जाय, इस बात से सावधान रहने की आवश्यकता है। जिस प्रकार राज्य की सीमा होती है, ऐसे ही व्रत की सीमा

अतिचार है। इन सीमाओं का उल्लंघन करना व्रत का उल्लंघन है। व्रत का पूर्ण रूप से पालन तभी समझा जाता है, जब उसमे अतिचार न हो। यदि व्रत में अतिचार का ध्यान न रखा गया तो व्रत अपूर्ण है।

इस दूसरे व्रत को अतिचार रहित पालन करने से, श्रावक अपने आप के लिये सुगति का आयुष्य बाँधता है। क्योंकि इस व्रत को पूर्ण रूप से पालने पर श्रावक अन्य पापो से भी लगभग बच जाता है और पापों से बचना अपने आपको कुगति मे डालने से बचाना है। अत. इस व्रत के पालने वालो का सदा कल्याण ही है।

सत्य भगवान् है, इसलिए सत्य की आराधना करो। सत्य का आसरा गहो। सत्य पर श्रद्धा रक्खो। सत्य का आचरण करो। मन से, वचन से और काय से सत्य की आराधना करो। सत्य भाषण करने से निडर बन जाओगे। सत्य बोलने से अगर कोई प्राण ले ले तो भी परवाह मत करो।

कदाचित् तुम सोचो कि हमारी सत्य बात मानी नहीं जायगी: लेकिन अगर कोई सत्य पर विश्वास नहीं करता तो तुम्हारी क्या हानि है ? तुम अपने सत्य पर अटल रहो। असत्य के भय से सत्य को त्याग कर असत्य का आसरा लेने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारी बात सत्य नहीं मानी जाएगी, यह विचार कर अगर भय किया तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हे सत्य पर पूर्ण विश्वास नहीं है। चिन्ता नहीं अगर कोई तुम्हारे सत्य पर विश्वास नहीं करता। भले ही तुम्हारे सत्य की लोग निन्दा करें, खिल्ली उड़ावें या सत्य के कारण भयंकर यातना पहुँचावे, परन्तु भय मत खाओ। अगर तुम

भय खाते हो तो समझ लो कि तुम्हारे अन्तर के किसी न किसी कोने मे सत्य के प्रति अश्रद्धा का कुछ भाव मौजूद है। सत्य पर जिसे पूर्ण श्रद्धा है, वह निडर है। संसार की कोई भी शक्ति उसे भयभीत नहीं कर सकती।

तुम किसी से भी भय न करके सत्य ही सत्य का व्यवहार रक्खो तो तुम जान जाओगे कि मुझे ईश्वर मिल गया। ईश्वर की शरण में जाने का उपाय है—सत्य ! सत्य ईश्वरीय विधान है। तुम ईश्वर की शरण ले लोगे फिर किसी प्रकार का भय न होगा। भय का स्थान तो असत्य है।

अगर आप अपने प्रत्येक जीवन-व्यवहार को सत्य की कसौटी पर कसें, सत्य को ही अपनावें और सत्य पर पूर्ण श्रद्धा रक्खें तो आप ईश्वर की शरण में पहुँच सकेंगे और आपका अक्षय कल्याण होगा।

असत्य साहसशील नहीं होता। वह छिपना जानता है, बचना चाहता है, क्योंकि असत्य में स्वयं बल नहीं है। निर्बल का आश्रय लेकर कोई कितना निर्भय हो सकता है ? किन्तु सत्य अपने आपमें बलशाली है। जो सत्य को अपना अवलम्ब बनाता है, सत्य के चरणों में अपने प्राणों को सौंप देता है, उसमें सत्य का बल आ जाता है और वह उस बल से इतना सबल बन जाता है कि विघ्न और बाधाएँ उसका पथ रोकने में असमर्थ सिद्ध होती हैं। वह निर्भय सिंह की भाँति निस्संकोच होकर अपने मार्ग पर अग्रसर होता चला जाता है।

★ ★ ★ ★ ★ ★

मनुष्य को जब तक अनुभव नहीं हो जाता, तब तक उसकी समझ में सत्य का महत्त्व नहीं आता। जब उसके सिर पर कोई ऐसी आपत्ति आ पड़ती है—जो असत्य का आश्रय लेने से उत्पन्न हुई हो तो तत्काल ही वह समझ जाता है, कि सत्य का क्या महत्त्व है !

सत्य-मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन भी है और फूलों के बिछौने पर चलने के समान सरल भी है। इसमें प्रकृति की भिन्नता का अन्तर है। ऐसे मनुष्य भी हैं, जो अकारण ही असत्य बोलते हैं और सत्य व्यवहार को तलवार की धार पर चलने के समान कठिन मानते हैं। उनका विश्वास है कि सत्य व्यवहार करने वाला मनुष्य संसार में जीवित ही नहीं रह सकता। दूसरे ऐसे भी मनुष्य हो चुके हैं और हैं, जो असत्य व्यवहार करने की अपेक्षा, मृत्यु को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य-व्यवहार, उनके लिये फूलों की सेज है। फिर उस मार्ग में उन्हें चाहे कितने ही कष्ट हों, किन्तु, वे उसकी परवाह किये बिना ही, प्रसन्नता-पूर्वक अपने मार्ग पर चलते रहते हैं।

सत्यवादी के संसर्ग से असत्यवादी के हृदय का परिवर्तन शीघ्र हो जाता है। सत्यव्रत के पालने वाले मनुष्यों में, ऐसी ही शक्ति होती है। उनके एक बार के सम्पर्क से ही, पतित से पतित व्यक्ति भी, अपना कल्याण-मार्ग देख लेता है। जिसने सत्य व्रत का एक देश ग्रहण कर लिया, वह भविष्य में पूर्ण सत्य-व्रती बन जाता है।

सत्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारक सिद्धान्त है। इसके पालन करने वाले को तो सदैव आनन्द है ही, किन्तु जो व्यक्ति सत्य का पालन करने वाले व्यक्ति के सम्पर्क में एक बार भी आ जाता है और उसकी एक भी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, तो वह भी भविष्य में अपना कल्याण-मार्ग पा जाता है।

अस्तेयव्रत ।

विषयारम्भ !

पाँच व्रतों में से, तीसरा व्रत 'अस्तेय' या अदत्तादान-विरमण है। अस्तेय या अदत्तादान-विरमण, स्तेय या अदत्तादान के अभाव को कहते हैं। स्तेय या अदत्तादान का अर्थ है चोरी। चोरी से निवृत्ति के लिये जो व्रत धारण किया जाता है, उसे 'अदत्तादान-विरमण' या 'अस्तेय' व्रत कहते हैं।

इस व्रत को धारण करने की आवश्यकता और इससे होने वाले लाभ बताने के पहिले, यह आवश्यक प्रतीत होता है, कि इस व्रत को धारण करने के लिये जिस चोरी से निवृत्त होना पड़ता है, उसका कुछ रूप बताया जाय। अतएव संक्षेप में पहिले इसी पर विचार कर लें।

मन, वचन, काय द्वारा दूसरे के हकों को स्वयं हरण करना, दूसरे से हरण करवाना या इसका अनुमोदन करना, चोरी कहलाती है। अर्थात् जिस पर अपना वास्तविक रीति से अधिकार नहीं, फिर वह अधिकार चाहे रहा ही न हो, या रहा हो, लेकिन त्याग दिया हो,

उस पर विना उसके स्वामी की आज्ञा के अधिकार करने, उसे अपने काम में लेने, और उससे लाभ उठाने को चोरी कहते हैं ।

मन में दूसरे के हकों को हरण करने के संकल्प विकल्प करना, मानसिक चोरी है। वचन द्वारा दूसरे के हकों को हरण करना, या दूसरे की वाणी को छिपाना, वाचिक चोरी है। इसी प्रकार, जिन कार्यों के करने से दूसरे के हकों को आघात पहुँचता है, दूसरे के हकों का जिन कार्यों द्वारा अपहरण किया जाता है, दूसरा अपने हकों से वंचित रहता, उन सब कार्यों की गणना कायिक-चोरी में है। इस प्रकार मन, वचन और काय के योग द्वारा, दूसरे के हकों का अपहरण करना. अपहरण करके उनका उपभोग करना, उनसे काम लेना, मन, वचन, और काय द्वारा की गई चोरी कहलाती है।

मन, वचन, काय और इनके योगों द्वारा, विशेषतः द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की चोरी होती है। द्रव्य से तात्पर्य है, वस्तु का। फिर वह वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव। क्षेत्र का अर्थ है स्थान। जैसे घर, बाग, मार्ग, आदि। काल का अर्थ है समय। जैसे, शताब्दी, वर्ष. महीने, दिन आदि। भाव का अर्थ है विचार और कार्य।

चोरी विशेषतः दो प्रकार की होती है। एक तो वास्तविक मालिक की अनुपस्थिति में या उसकी असावधानी मे। जैसे सेध लगा कर जेब काटकर ताला खोलकर चोरी करना आदि। दूसरी, वास्तविक मालिक की उपस्थिति या असावधानी में भी। जैसे डाका, डालकर, मार्ग लूट कर चोरी करना आदि।

जिस वस्तु पर, अपना अधिकार ही नहीं है, या जो वस्तु दूसरे के अधिकार की है, उसे बिना उस वस्तु के स्वामी की आज्ञा और इच्छा के ग्रहण करना, अपने उपभोग में लेना और लाभ उठाना,

द्रव्य की चोरी है। फिर वह वस्तु, सजीव—जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति आदि —हो, या निर्जीव—जैसे सोना, चाँदी, रत्न, मकान, वस्त्र आदि।

सैंध लगाकर, जेब काटकर, डाका डाल कर, मार्ग मे लूटकर, ठग कर, जाली नोट हुण्डी, बनाकर, झूठी दस्तावेज बना कर, राज्य का महसूल चुराकर, ग्राहक से कपट द्वारा अधिक मुनाफा लेकर, पड़ी हुई चीज —फल, रुपया, पैसा, आदि दूसरे की मालिकी का जानते हुए उठाकर, इत्यादि उपायों से दूसरे के हकों का अपहरण करना और लाभ उठाना, चोरी है। इसी प्रकार वस्तु मे सम्मिश्रण करना एक वस्तु बताकर दूसरी देना या लेना, कम देना, ज्यादा लेना, घूस देना-लेना, भी चोरी है। ऐसे ही और भी कई उपायों से, द्रव्य चोरी होती है।

इस सभ्य कहलाने वाले युग में, केवल उन्हीं उपायों से होने वाली चोरियों की गणना चोरी में है, जिन उपायों से कि चोरी करने पर, राज्य —नियमानुसार दण्डित हो सके। जिन उपायो से चोरी करने पर राज्य -नियमानुसार दण्डित नहीं हो सकता, उनकी गणना चोरी मे नहीं की जाती। लेकिन, शास्त्रानुसार उस सब कार्य, बात विचार की गणना चोरी में है, जिसके द्वारा दूसरे के हकों का अपहरण किया जावे, या उनसे अनुचित फायदा उठाया जावे। आज के कानून ने, कुछ इने गिने उपायो द्वारा दूसरे के हक-हरण को ही चोरी मे मानकर, प्रकारान्तर से, चोरी के दूसरे सब मार्ग खुले कर दिये हैं। इसलिये, चोरी के वे सभी उपाय निकले हैं, जिनके द्वारा चोरी करने वाले, दूसरे के हकों का अपहरण करने पर भी, राज्य —नियम से दण्डित नहीं होते। सेंध लगाने, डाका डालने, ठगने, जेब काटने, आदि राज्य—नियम से दण्ड्य उपायो द्वारा चोरी करने वाले, चाहे दो पैसे की भी चीज चुरावे, तब भी वे चोर कहलाते हैं

और राज्य-नियमानुसार दण्डित होते हैं, परन्तु सभ्य उपायो द्वारा चोरी करने वाले, हजारो, लाखो और करोड़ों रुपयो की चोरी करके भी साहूकार ही बने रहते हैं और राज्य-दण्ड से बचे रहते हैं। ऐसे सभ्य-उपायों द्वारा चोरी करने वाले लोगो से, जनता की जितनी हानि हो सकती है, उतनी हानि, उन असभ्य उपायों द्वारा चोरी करने वाले लोगों से, शायद ही होती हो। क्योंकि, असभ्य उपाय द्वारा चोरी करने वाले लोगो से; जनता सावधान रहती है और उनसे अपने हक्रो की रक्षा करने का उपाय भी करती है। परन्तु इन सभ्य उपायो द्वारा चोरी करने वाले प्रतिष्ठित 'शाह' नामधारी लोगों से, जनता सावधान नहीं रहती। इस प्रकार, उन असभ्य उपायों द्वारा चोरी करने वालों की अपेक्षा, सभ्य उपायों द्वारा चोरी करने वाले, कहीं अधिक भयंकर हैं। इन सभ्य उपायों मे से, कुछ चुने हुए उपाय नीचे दिये जाते हैं।

कई लोग व्यापार में स्थिति का झूठा रोब जमाकर, लोगो से माल लाते हैं। व्यवहार करते हैं, और दूसरों का रुपया अपने यहाँ जमा रखते हैं। इस प्रकार दूसरो का धन खींचकर, झूठा जमा-खर्च करके बाद में अचानक ही दिवाला निकाल देते हैं।

कई व्यापारी, अपनी सम्पत्ति के बल से, बाजारो में एक दम से वस्तु का भाव घटा या बढ़ा देते हैं, और इस तरह सारे बाजार पर अपना आधिपत्य जमाकर, दूसरे के हको का अपहरण करते हैं।

कई व्यापारी, ग्राहक को तो कहते जाते है, कि- ज्यादा ले सो छोरा छोरी खाय या गऊ खाय। ग्राहक समझते हैं कि व्यापारी कसम खा रहा है, परन्तु व्यापारी यह कहकर भी वस्तु का मूल्य अधिक लेता है। अधिक ली हुई रकम छोरा-छोरी या गाय या गाय के खाते में जमा कर लेते हैं। लड़के लड़को के खाते की रकम, उनके खाने-पीने विवाह-शादी आदि में लगा देते हैं, और गाय के खाते

की रकम, घर में पली हुई गाय के खिलाने-पिलाने में खर्च कर देते हैं। यदि घर के लड़के लड़की या गाय के खर्च से कुछ रकम बची रही, तो उसे छात्रालय, गोशाला आदि में देकर चोर होते हुए भी अपनी गणना दानवीरों मे कराने लगते हैं।

कई व्यापारी, अपढ़ ऋण लेने वाले को, एक सौ रुपया देकर, दस्तावेज एक शून्य अधिक की —अर्थात् एक हजार की लिखवा लेते हैं। इसी प्रकार व्याज, सवाल, ड्योढ़ाल आदि में भी छल से दुगुना तिगुना कर लेते हैं

कई लोग, किसी सार्वजनिक संस्था या लोकोपयोगी कार्य के लिये धन एकत्रित करके, या तो एकदम से दाव बैठते हैं, या नाम-के लिये थोड़ा बहुत कुछ खर्च करके, शेष धन हजम कर जाते हैं। कोई कोई ऐसी संस्था या कार्य को कुछ समय तक, जब तक कि उसके नाम पर धन प्राप्त होता रहता है, चलाते भी रहते हैं और उसमे से अपना मतलब भी गांठते रहते हैं।

कइयो ने, विज्ञापनवाजी को चोरी का साधन बना रखा है। पत्रों, हैण्ड-बिलों आदि द्वारा विज्ञापन करके, लोगों से आर्डर या पेशगी कीमत लेते हैं, परन्तु विज्ञापन के अनुसार न माल ही देते हैं, न कार्य ही करते हैं। विज्ञापन द्वारा किस तरह चोरी की जाती है, इसके लिये, एक विज्ञापन के विषय में सुनी हुई बात इस प्रकार है—

एक विज्ञापनवाज ने, मक्खियों से बचने की दवा का विज्ञापन किया। उसने अपने विज्ञापन में लिखा—"केवल एक आने के टिकिट भेज देने मात्र से, हम यह दवा भेजते हैं, जिसे भोजन करते समय पास रखने पर, मक्खियाँ नहीं सतातीं।" लोगों ने उसके पास एक एक आने के टिकिट भेजे। विज्ञापक ने, उन टिकिटों में से, तीन पैसे के टिकिट तो अपनी जेब में रखे, और एक पैसे के कार्ड पर

टिकिट भेजने वालों को उत्तर दे दिया—'आप भोजन करते समय एक हाथ हिलाते जाइये, फिर मक्खियाँ नहीं सता सकतीं।'

मतलब यह है कि आज के कानूनो से असभ्य चोरियों की संख्या चाहे कम हो गई हो, परन्तु सभ्यता की ओट में होने वाली चोरियों की संख्या मे तो वृद्धि ही सुनी जाती है। असभ्य उपायों से चोरी करने वाले को, राज्य भी दण्डित करता है, और समाज भी घृणा की दृष्टि से देखता है, परन्तु इन सभ्य उपायो से चोरी करने वाले को, न तो राज्य ही दण्ड देता है, और न समाज में ही घृणित माना जाता है। हाँ, ऐसी चोरी करने वाला, समाज मे, 'चतुर' या 'होशियार' अवश्य कहलाता है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि आज संसार का अधिकांश समाज चोरी के पाप मे पड़ा हुआ है।

चोरी करने वालों को दण्ड देने वालों में से भी, बहुतो के लिये सुना जाता है कि वे स्वयं घूसादि के नाम पर हजारों लाखो की चोरी करते हैं। स्वयं तो इतनी बड़ी बड़ी चोरी करे, और दूसरों के रुपये-आठ आने की चीज चुराने पर भी दण्ड दें, यह कैसे उचित कहला सकता है? परन्तु चोरो को दण्ड देते समय उन्हें अपना विचार नहीं आता। वे इस बात को नहीं देखते कि हम जब ऐसी बड़ी बड़ी चोरी करते हैं, तब हमको इस छोटी चोरी करने वाले को दण्ड देने का क्या अधिकार है?

जब तक कोई स्वयं चोरी करता है, तब तक वह दूसरे को कैसे दण्ड दे सकता है? दूसरे से किसी बात का पालन करवाने के लिये पहले स्वयं उसका पालन करना अत्यावश्यक है। आप स्वय चोरी करें और दूसरे को चोरी के लिए उचित दण्ड दें, यह न्याय नहीं कहला सकता।

जीवधारियों की चोरी भी द्रव्य की चोरी में शामिल है। किसी जीवधारी पर उसकी स्वयं की, और यदि वह वेसमझ है, तो उसके अभिभावक स्वामी आदि की आज्ञा के विना, अपना अधिकार करना, उसके द्वारा किसी रूप में लाभ उठना चोरी है। जैसे पशु, पक्षी, स्त्री, बालक, आदि को बिना उनके स्वामी की आज्ञा के अपने अधिकार में करना, उन्हें वेचकर उनसे फायदा उठाना।

किसी के घर, बाग, खेत, मार्ग, गाँव, देश या राज्य पर विना उसकी आज्ञा के अधिकार करना, उन्हें अपने काम में लेना या किसी प्रकार का फायदा उठाना क्षेत्र की चोरी है।

वेतन किराया सूद कमीशन आदि देने के लिये, समय को न्यूनाधिक बताना, काल की चोरी है।

किसी कवि लेखक वक्ता के भावों को लेकर उन पर अपना रंग दे अपने बताना, किसी के उपकार को न मानना, शास्त्र या ग्रन्थ के किसी भाव को पलटना या छिपाना और उनके नाम पर अनुकम्पा को पाप में बताना, दूसरे का उपकार न करने के लिये लोगों को उपदेश देना, आदि कार्यों की गणना भाव-चोरी में है।

जिस प्रकार—

मा देह किंचि दाणं।

प्र० व्या० सू०

अर्थात्—जरा भी दान मत दो।

इस कथन की गणना झूठ में की गई है, इसी प्रकार बहुत से कार्यों की गणना चोरी में भी की गई है। जैसे-अदत्तादान विरमण व्रत का उपदेश करते हुए प्रश्न-व्याकरण- सूत्र में कहा है—

"इस व्रत को धारण करने वाला, दूसरे की निन्दा न करे, दूसरे के दोष न निकाले, दूसरे से द्वेष न करे, दूसरे के नाम पर लाई हुई वस्तु आप न भोगे, दूसरे के सुकृत सच्चरित्रता और उपकार का नाश न करे, दूसरे को दान देने में विघ्न न करे और दूसरे के गुण सुनकर असह्य न बनावे। क्योंकि ऐसा करना चोरी है।

दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।

आयार-भावतेणे य, कुव्वइ देवकिव्विसं ॥

अर्थात्—जो आदमी तप, अवस्था, आचार, और भाव को छिपाता है, दूसरे के पूछने पर स्पष्ट नहीं कहता, वह-साधु होने पर भी-किल्विष (नीच) देव की योनि में उत्पन्न होता है।

गीता में कहा है—

तैर्दत्ता न प्रदायैभ्यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।

अ० ३.

अर्थात्—अपने पर जिसका उपकार है, जिससे अपने को सहायता मिली है, उसका वदला न चुकाना चोरी है।

जिस वस्तु की कमी से दूसरे को हानि पहुँचती है, उस वस्तु का आवश्यकता से अधिक संचय करना या उपभोग करना भी एक प्रकार की चोरी है। क्योंकि उस वस्तु का अधिक उपभोग करने वाले को भी हानि पहुँचती है, और वह चीज दूसरे को नहीं मिलती, इसलिये दूसरे की अन्तराय भी आती है। इसी प्रकार और भी बहुत से कार्यों की गणना भाव-चोरी में है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में चोरी के तीस नाम बतलाये हैं। इन नामों पर ध्यान देने से चोरी का व्यापक भाव समझ में आसकता है। वे इस प्रकार हैं—

गुणानुसार चोरी के तीस नाम बताये जाते हैं। वे ये हैं—(१) चोरी; (२) दूसरे के हकों को हरा जाता है, इसलिये 'परहृत' (३) बिना दिया हुआ दूसरे का द्रव्य लिया जाता है, इसलिये 'अदत्त' (४) क्रूर मनुष्यों द्वारा सेवित होने से 'क्रूरकृत'; (५) दूसरे के धन से लाभ लिया जाता है, इसलिये 'परलाभ'; (६) संयम-नाशक होने से 'असंयम' (७) दूसरे के धन में लोलुपता होने से 'पर धनगृद्धि'; (८) दूसरे के धन के लिये चँचल रहने से 'लौल्य'; (९) दूसरे का धन चुराया जाता है, इसलिये 'तस्करत्व'; (१०) दूसरे का धन हरण किया जाता है, इसलिये 'अपहार'; (११) यह कार्य हाथ की चालाकी से होता है, इसलिये 'हस्तलस्व'; (१२) यह पाप कर्म कराता है, इसलिये 'पापकर्मकरण'; (१३) अस्तेय का नाशक है, इसलिये 'स्तेय'; (१४) दूसरे का द्रव्य नाश किया जाता है, इससे 'हरणविपणास': (१५) दूसरे का धन लिया जाता है, इसलिये 'आदान'; (१६) दूसरे के धन का लोप किया जाने से 'धन लोपन'; (१७) अविश्वास का कारण होने से 'अप्रत्यय'; (१८) दूसरे को पीड़ा देने से 'अवपीड़'; (१९) दूसरे के धन को छीन लेने से 'आक्षेप' (२०) 'क्षप' (२१) 'विक्षेप'; (२२) छल कपट युक्त होने से, 'कूटता'; (२३) कुल का कलंक बनाने से 'कुलमसि'; (२४) दूसरे के धन की लालसा होने से, 'कांक्षा'; (२५) इसे छिपाने के लिये दूसरे की प्रार्थना करनी पड़ती है और दीन वचन बोलने पड़ते हैं, इससे 'लालपन-प्रार्थना'; (२६) दुःख का कारण होने से 'व्यसन'; (२७) दूसरे के धन में लोलुपता होने से 'इच्छा-मूर्छा' तथा (२८) 'तृष्णा-गृद्धि' (२९) माया सहित होने से 'निकृति' कर्म (३०) और किसी के सामने दूसरे का धन न लेने से 'अप्रत्यक्ष' नाम है। मित्रद्रोह-आदि पापों से भरे हुए अदत्तादान के ऐसे ही और अनेक नाम हो सकते हैं।

चोरी के कारण

चोरी करने का अन्तरंग-कारण द्रव्यलोलुपता है। उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में कहा है—

> रूवे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
> सत्तो व सत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
> अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
> लोभाविले आययइ अदत्तं॥

अर्थात्-रूप की ओर से जिसे सन्तोष नहीं है, यानी जो रूप और रूपवान के परिग्रह में अत्यन्त आसक्त हो गया है, और जिसे इनके संग्रह की सदैव लालसा बनी रहती है, वह लोभ का मारा हुआ, तथा असन्तोष के वेग से व्याकुल पुरुष दूसरे की चोरी करता है।

यही बात शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श के लिये भी कही है। यानी जो इनका लोभी हो गया है, वह इनकी प्राप्ति के लिये, चोरी

करने में भी संकोच नहीं करता। मतलब यह कि विषयसुख का लोभ या आसक्ति ही चोरी का अन्तरंग कारण है।

चोरी के बाह्य कारणो में से, पहिला कारण है—लोगों की बेकारी और भूखों मरना। बेकार लोग, भूखों मरते अपने पेट की ज्वाला बुझाने के लिये चोरी का आश्रय लेते हैं। पेट की ज्वाला से पीड़ित लोग, उचित अनुचित उपायो का ध्यान नहीं रखते; किन्तु जिस तरह बनता है, उस तरह दूसरों का धन हरण करके अपने पेट की ज्वाला बुझाते हैं। समाचारपत्रों से प्रकट है कि केवल भारत मे ही प्रतिवर्ष सैकड़ों मनुष्य बेकारी से घबराकर आत्म-हत्या कर लेते हैं। बेकार होने पर भी, जो लोग चोरी को बुरा समझते हैं, वे आत्म-हत्या कर डालते हैं। मतलब यह कि चोरी करने के कारणो में से एक कारण बेकारी है।

बेकारी बढ़ाने में, मुख्यतः कारखानों का हाथ है। जिस काम को करके लाखों-करोड़ो आदमी अपना भरण-पोषण करते थे, कारखानो के होने पर उन लाखो करोड़ो की आजीविका कुछ ही लोगों को मिल जाती है। इस तरह कारखानो से बेकारी बढ़ गई है।

बेकारी बढ़ने का दूसरा कारण है, देश के वाणिज्य और कला-कौशल का नष्ट होना। जब देश का वाणिज्य और कला-कौशल नष्ट हो जाता है, तब उनके द्वारा आजीविका चलाने वाले लोग बेकार भूखो मरते चोरी करने लग जाते हैं।

बेकारी के ऐसे और भी कई कारण हैं, जिनका वर्णन करना अनावश्यक है।

चोरी के बाह्य कारणो मे से, दूसरा कारण फिजूल खर्ची है। फिजूल खर्ची में पहला नम्बर जुए का है। सट्टा, फाटका, लॉटरी,

सौदा, शर्त आदि सब जुए के ही रूप हैं। आलसी लोग जुआ खेलने लगते हैं। जब वे अपनी सम्पत्ति को उसमे स्वाहा कर देते हैं, तब चोरी करने लगते हैं। प्रारम्भ मे तो ऐसे लोगों की चोरी अपने ही घर तक रहती है, परन्तु जब घर में दाल नहीं गलती या कुछ नहीं रह जाता, तब वे दूसरे के धन पर हाथ साफ करने लगते है।

फिजूल खर्ची में, दूसरा नम्बर अन्य अन्य दुर्व्यसनों का है। यानी, शराब, गाँजा, भंग, तमाखू, चर्स, रण्डीबाजी, आदि अन्य बुरे कार्यों का व्यसन होना। दुर्व्यसनी को जब दुर्व्यसनो के लिये पैसा नही मिलता, तब वह चोरी करने लगता है।

फिजूल खर्ची में तीसरा नम्बर सामाजिक-कुप्रथाओ का है। समाज मे जब यह नियम होता है, कि विवाह, शादी, नुकते या किसी और काम में इतना खर्च करना ही चाहिए, या इतना रुपया, इतना जेवर, इतना कपड़ा होने पर ही विवाह हो सकता है, या अमुक वस्तु और इतनी रसोई देनी चाहिए, तब इस कुप्रथा और फिजूल खर्ची का पोपण करने के लिये भी लोग चोरी करने लगने लगते हैं। यह बात दूसरी है, कि ऐसे लोग असभ्य उपायों से दूसरे के हको को हरण न करके सभ्य उपायों से हरण करें, परन्तु ऐसा करना भी तो चोरी ही है। मतलब यह, कि फिजूल खर्ची भी चोरी का एक कारण है।

चोरी के बाह्य कारणों मे से तीसरा कारण है, यश कीर्ति या बड़ाई की चाह। इस कारण से चोरी करने वालो मे, पहला नम्बर उन लेखकों, वक्ताओ और कवियो का है, जो अपनी बड़ाई के लिये, दूसरे के लेख, कविता और भावो को चुराकर, उसी रूप मे या कोई दूसरा रंग चढ़ाकर अपने नाम से प्रसिद्ध करते हैं। दूसरा नम्बर है उन सेठ साहूकार अमीर रईस और राजाओ का, जो दूसरे के धन

को चोरी के उपायों से हरकर केवल यश कीर्ति के लिये, विवाह शादी मिहमानी भ्रमण आदि में खर्च करते हैं, या दानी बनने के लिये, संस्था आदि को दान देते हैं। इसी तरह जो दूसरे का राज्य छीनकर अपने को वीर कहलाना चाहते हैं अथवा जो दूसरे का रोजगार मारकर अपने को बड़ा व्यापारी प्रसिद्ध करने के इच्छुक रहते हैं। तीसरा नम्बर है, उन साधु-सन्त कहलाने वालों का; जो केवल प्रशंसा और प्रतिष्ठा के लिये अपने आपको, आचार—भ्रष्ट होने पर भी उत्तम साधु; स्थविर न होने पर भी अपने को स्थविर; तपस्वी न होने पर भी अपने को तपस्वी; और विद्वान् न होने पर भी अपने को विद्वान् बताते हैं। मान बड़ाई के लिये, और भी बहुत लोग बहुत रूप से चोरी करते सुने जाते हैं, जिनका वर्णन यहाँ विस्तार भय से नहीं किया जाता है।

चोरी का चौथा कारण है स्वभाव । अशिक्षा और कुसंगति के कारण बहुत लोगो का स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि उनके पास किसी प्रकार की कमी न होने पर भी, या दूसरा रोजगार मिलने पर भी, वे चोरी करना अच्छा समझते हैं और चोरी करते हैं।

चोरी का सबसे बड़ा बाह्य कारण अराजकता है। राज्य द्वारा जब भूखो मरते हुओ की व्यवस्था नहीं की जाती, दुर्व्यसन नहीं मिटाये जाते, सामाजिक कुप्रथाओ, तथा मान—बड़ाई के लिये चोरी करने वालो को नहीं रोका जाता और शिक्षा का प्रबन्ध नहीं किया जाता तब तक चोरी होना स्वाभाविक है।

चोरी कौन और कैसे करते हैं तथा चोरो में किन लोगों की गणना है, इसके लिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि—

"दूसरे का धन हरण करने में दक्ष, इसके लिये अवसर के जानकार तथा साहस रखने वाले और हाथ की सफाई वाले ही लोग,

चोरी करते हैं। अपने स्वरूप को छिपा, बातों का आडम्बर बना, मधुर-मधुर बोल कर दूसरे को ठगने वाला चोर होता है। जिसकी आत्मा तुच्छ है, जिसकी धन-लालसा बढ़ी हुई है, जो देश या समाज से बहिष्कृत है, जिसे मर्यादा भंग करने में संकोच नहीं है, जो जुआ खेलता है,-चोरी में बाधा देने वाले को या जिससे धन मिलने की आशा है उसकी घात करने में जिसे भय या संकोच नहीं होता, अपने साथियों की घात करने में भी जो नहीं हिचकिचाता और ग्राम नगर, जंगल आदि को जला देता है, वह चोरी करता है। जो ऋण लेकर फिर लौटाना नहीं जानता, जो सन्धि भंग करता है, जो सुव्यवस्था रखने वाले राजा का बुरा चाहता है, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका में जो भेद डालता है और चोरी करने वालों को उनके चोरी के कार्य में किसी भी रूप से सहायता देता है, वह चोर है। चोर लोग, जबरदस्ती या गुप्त रहकर, और वशीकरणादि मन्त्रों का प्रयोग करके गांठ काट कर, तथा और भी दूसरे उपायों से दूसरे का धन स्त्री, पुरुष, दास, दासी, गाय, घोड़ा, आदि हरण कर लेते हैं, इसी प्रकार, राज-भंडार तोड़ कर भी धन हरण करते हैं। इसी तरह—दूसरे के धन को हरण करने के प्रत्याख्यान रहित, विपुल बल परिवार वाले, अपने धन में सन्तोष न मानने वाले और दूसरे के धन का लोभ रखने वाले, बहुत से राजा लोग, दूसरे राजा के देशों को नष्ट करके धन हरण करने के लिये, युद्ध के निमित्त चतुरंगिणी सेना सजा और 'पहिले मैं ही विजय कर लूं' ऐसा दर्प रखने वाले उत्तम योद्धाओं को लेकर, तथा व्यूह बना कर, दूसरे के बल को नष्ट करके उसका धन हरण करते हैं।

और भी कहा गया है कि—अनुकम्पा और परलोक के डर से रहित चोर लोग, ग्राम, नगर, खदान, आश्रम, आदि तथा समृद्ध देशों को लूट लेते हैं और उन्हें नष्ट कर डालते हैं। चोरी करने में

स्थिर हृदय और दारुण बुद्धि वाले निर्लज्ज लोग, लोगों के घर मे सेंध फोड़कर, घर में रखे हुए धन-धान्यादि का हरण करते हैं, और सोये हुए गाफिल लोगो को लूट लेते हैं। धन की खोज में ऐसे लोग, काल-अकाल में और जाने न जाने योग्य स्थान का विचार नहीं करते, किन्तु जहाँ रक्त की कीच हो रही है, मृतकों के शव रक्त से भीगे पड़े है, प्रेत, डाकिनी-शाकिनी आदि घूमती हैं और शृगाल उलूकादि भयानक पशु-पत्ती शब्द करते हैं—ऐसे घोर श्मशानों में, सूने मकानों में, पर्वत की गुफाओं में, तथा जहाँ सर्पादि भयंकर जानवर रहते है, ऐसे विषम जंगलों में रहकर; शीत ताप की पीड़ा सहते हैं और यहाँ चिन्ता किया करते हैं, कि किसका धन हरण करें। ऐसे स्थानों में रहते हुए, ये लोग भूख लगने पर कभी तो लड्डू भात मदिरा आदि का भोजन-पान करते हैं, और कभी कन्द मूल मृतक-शरीर या जो कुछ मिल जावे, वही खा लेते हैं। जिस प्रकार भेड़िया खून की तलाश में, इधर उधर घूमता फिरता है, उसी प्रकार चोर लोग भी पराये धन की तलाश में इधर उधर घूमते फिरते हैं और नरक तिर्यंच योनि मे होने वाले कष्टों को, वे निरन्तर यहाँ भोगते हैं। चोरी करने वाले लोग, सज्जनों से निन्दित हैं, पापी हैं, राजाज्ञा भंजक हैं, प्राणियो के दुःख के कारण हैं और मानसिक चिन्ताओं से तथा इसी लोक मे सैकड़ों दुःखों से युक्त हैं।

चोरी का फल।

चोरी घोर नीच कर्म है। इस नीच काम में प्रवृत्त होने वाले की इन्द्रियाँ और मन सदा चंचल रहते हैं, जो धर्ममार्ग में बाधक है। धर्म मे इन्द्रियो और मन के एकाग्र होने की खास आवश्यकता है। किन्तु चोरी करने वाले की इन्द्रियाँ और मन संयम मे नहीं रहते, इससे वह धर्म से सदा दूर रहता है।

चोरी करने वाले की वृत्तियाँ ऐसी खराब हो जाती हैं कि संसार के किसी भी नीच-कार्य से उसे घृणा नहीं होती। उसकी वृत्तियाँ निरन्तर पापों में ही जाती हैं। प्रेम, दया, अहिंसा आदि गुण चोरी करने वाले के पास भी नहीं ठहरते।

चोरी की निन्दा करते हुए भगवान् ने प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है—

'हे जम्बू! तीसरा आश्रवद्वार अदत्तादान यानी नहीं दिये हुए धनादि को ग्रहण करना है। यह अदत्तादान, हरण करना, जलाना

मरना, भय पाना, आदि पापो से लिप्त है। अदत्तादान की उत्पत्ति दूसरे के धन मे रौद्र ध्यान सहित मूर्छा होने से होती है। यानी धन से जिसकी तृष्णा नहीं मिटी है, वही चोरी करता है। चोरी करने वाले लोग, आधी रात तथा पर्वतादि विपम स्थानो तक का आश्रय लेते हैं, और उत्सवादि में गाफिल तथा सोये हुए को लूट लेना, ठग लेना, दूसरे के चित्त को व्यग्र करना, दूसरे को मार डालना, उनका काम होना है। यह चोरी कार्य, राग द्वेष से पूर्ण, दया से रहित, आर्यजनो तथा साधुजनों से निन्दित और तस्करों को बहुत प्रिय है। अदत्तादान भय, अकीर्ति, वध, नाश, संग्राम, प्रियजनों तथा मित्र-जनो की अप्रीति और जन्म-मरण का कारण है। यह कार्य, दुखों के प्रवेश करने का द्वार है। इसके करने वाले को राजादि द्वारा दण्ड प्राप्त होता है। इसका फल दारुण है, यह बड़े पाप का प्रवाह है, इसलिये इस कार्य को आश्रव द्वार कहते हैं।

चोरी करने वाले की कीर्ति नष्ट हो जाती है। ऐसे आदमी का विश्वास करना तो दूर रहा, लोग उसके पास भी खड़े नहीं रहते, उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। चोरी करने वाले की इस लोक और परलोक मे जो दुर्गति होती है, उसका वर्णन प्रश्नव्याकरण सूत्र में सुन्दर ढंग से किया गया है।

कर्म से पराभव पाये हुए लोग, अपनी इन्द्रियों को संयम में नहीं रख सकते, तब, शब्द रूप रस गंध स्पर्श में लोलुप बनकर, इनके मोह में मुग्ध होकर, तथा दूसरे के धन मे लोभ-तृष्णा बढ़ी हुई होने से, ठगकर, झूठ बोलकर, और सेंध आदि द्वारा दूसरे का धन हरण करते हैं। तब उन नरकगामी चोरों को पकड़कर राजपुरुष अपने अधीन करते हैं, बांधकर प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मार्गों से घुमाते हैं, और लातें, घूसे, जूते, लकड़ी आदि मारते हैं; आदि-आदि।

यह तो चोरी करने के कारण इस लोक मे होने वाले कष्टों का संक्षिप्त वर्णन हुआ। परलोक में होने वाले कष्टों का वर्णन करते हुए सूत्र में कहा है कि—

'चोरी करने वाले लोग, मरकर नरक मे जाते हैं। नरक आनन्द-दाता स्थान नही होता है, किन्तु उसमे कहीं तो धधकती हुई आग रहती है और कहीं अत्यन्त शीत। ऐसे नरक में उन्हे अनेकों कठिन दुख भोगने पड़ते हैं। बहुत काल तक वहाँ रह चुकने के पश्चात् वे तिर्यक्योनि में जन्म पाते हैं, जहाँ नरक के समान ही दुख होता है। चोरी करने वाले लोग यदि अनन्तकाल के पश्चात् मनुष्य-भव पाते भी हैं, तो अनेकों बार नरक-तिर्यक्-योनि में परिभ्रमण कर चुकने पर मनुष्य जन्म पाते हैं। मनुष्य-जन्म में भी वे सुखी नहीं होते, किन्तु या तो अनार्य जाति मे उत्पन्न होते हैं, या आर्यजाति के ऐसे कुल मे जन्म लेते हैं, जिससे लोग घृणा करते हैं। इस प्रकार मनुष्य-योनि पाकर भी, वे पशु तुल्य कष्ट भोगते हैं। मनुष्य-योनि में भी वे तत्त्वज्ञान नहीं पाते, क्योंकि वे शास्त्रविरुद्ध तत्त्व के उपदेशक, एकान्त हिंसा मे श्रद्धा रखने वाले, और कामभोग की बहुत लालसा वाले होते हैं। मनुष्य भव में वे लोग, नरक जाने के ही काम करते हैं और अपने संसार को बढ़ाते हैं। चोरी करने वाले इस तरह आठ प्रकार के कर्म-बन्धनो से अपने को बाँधकर, नरक, तिर्यक्, मनुष्य, देव-भव रूपी संसार में भटकते रहते हैं।

इन वर्णन किये हुए सब पापो और कष्टो से बचने के लिये चोरी को त्यागना उचित है।

अदत्तादान-विरमण व्रत ।

अदत्तं नादत्ते, कृतसुकृतकामः किमपि यः;
श्रुतश्रेणीस्तस्मिन्, वसति कलहंसीव कमले ॥
विपत्तस्माद् दूरं व्रजति रजनीवाम्बरमणेः ।
विनीतं विद्येव, त्रिदिवशिवलक्ष्मीर्भजति तम् ॥

—सिंदूरप्रकरण

अर्थात्—जो पुण्यकामी विना किसी की दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करते, उनमें शास्त्र श्रेणी इस प्रकार रहती है, जैसे कमल पर कमलहंसी। ऐसे लोगों से विपत्ति उसी प्रकार दूर हट जाती है, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर रात्रि हट जाती है। जिस तरह विद्या विनीत पुरुष को अंगीकार करती है, उसी तरह अदत्तादान के त्यागियों को स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी स्वीकार करती है।

चोरी का जो सूक्ष्म और स्थूल रूप संक्षेप में बताया गया है, उससे निवृत्त होने के लिये अदत्तादान-विरमण व्रत को धारण करना

उचित है। इस व्रत को धारण करके पालन करने वाला, इस लोक मे सुखी रहता है, विश्वासपात्र माना जाता है, यश तथा कीर्ति प्राप्त करता है और परलोक में भी सुख पाता है। इस व्रत की प्रशंसा और इसमे होने वाले लाभ के विषय में प्रश्न-व्याकरण सूत्र में कहा है कि—

अन्य के द्रव्य को हरण करने की क्रिया से निवृत्ति-युक्त, यह अदत्तादान विरमण नाम का व्रत, सुव्रत और सम्मान देने वाला है। यह व्रत, तृष्णा और कलुषता का निग्रह करने वाला, इन्द्रियों को संयम मे रखने वाला, तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ-धर्म है। यह व्रत पाप के मार्ग को रोकने वाला है। इस व्रत को धारण करने वाला, सब मनुष्यों में उत्तम तथा बलवान् है। इसके धारण करने वाले को कोई भय नही है और न उसे कोई दोष ही लग सकता है।

अन्य विद्वानो ने भी इस व्रत की प्रशंसा करते हुए कहा है—

तमभिलपति सिद्धिस्तं वृणीते समृद्धिः
तमभिसरति कीर्तिर्मुञ्चते तं भवार्तिः।
स्पृहयति सुगतिस्तं नेक्षते दुर्गतिस्तम्,
परिहरति विपत्तिर्यो न गृह्णात्यदत्तम्।

—सिन्दूरप्रकरण

अर्थात्—सिद्धि उसकी अभिलाषा करती है, समृद्धि उसे स्वीकार करती है, कीर्ति उसके पास आती है, सांसारिक पीड़ाएँ उसे त्याग देती हैं, सुगति उसकी स्पृहा (चाह) करती है, दुर्गति उसे नहीं देखती है, और विपत्ति उसे छोड़ देती है। जो बिना दिये हुए यानी अदत्त को ग्रहण नहीं करता।

शास्त्र में बताये हुए पाँचो व्रत, एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्ध रखते हैं, कि एक भी व्रत का पूर्ण रीति से पालन करने पर सब व्रतों का पालन स्वयं हो जाता है, और एक भी व्रत का खण्डन करने पर सब व्रतों का खण्डन हो जाता है। इसलिये शेष चार व्रत का पालन करने के लिये भी, इस व्रत को धारण करना आवश्यक है।

शास्त्र में अदत्तादान-विरमण के दो रूप बताये गये हैं। एक सूक्ष्म, और दूसरा स्थूल अथवा महाव्रत एवं अणुव्रत। सूक्ष्म व्रत साधु के लिये बताया गया है और स्थूल-व्रत गृहस्थ श्रावकों के लिये। गृहस्थ-श्रावक सूक्ष्म-अदत्तादान-विरमण व्रत का पालन नहीं कर सकते; क्योंकि महाव्रत (सूक्ष्म व्रत) तीन करण और तीन योग से धारण किया जाता है, तथा उसमें किसी की बिना दी हुई वस्तु मात्र को ग्रहण करने का त्याग करना होता है। सूक्ष्म अदत्तादान विरमण व्रत को धारण करते समय साधु प्रतिज्ञा करते हैं—

समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावकम्मं णो करिस्सामिति समुट्ठाए सव्वं भंते अदिण्णादाणं पच्चक्खामि।

आचा० द्वि० श्रु० १६ वाँ अ०

अर्थात्—हे पूज्य ! मैं गृह, धन, पशु, पुत्र को त्याग कर, दूसरे का दिया हुआ भोगने वाला साधु होता हूँ। इसलिये मैं सावधान होकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि अदत्तादान का पाप मैं नहीं करूंगा, किन्तु वे ही चीजें भोगूंगा, जो दूसरे ने मुझे दी हों।

अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं सव्वं भंते ! महव्वए अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे

वा रन्ने वा अप्पं वा बहुं वा अणु वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचि-मंतं वा नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा नेवन्नेहिं अदिण्णं गिण्हावेज्जा अदिन्नं गिण्हंतेवि अन्ने ने समणुजाणेज्जा; जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसरामि। तच्चे ते! भंमहव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं॥

दशवैका० चौ० अ०

अर्थात्—गुरु से शिष्य ने पूछा—भगवन्! तीसरा महाव्रत कौनसा है? गुरु ने कहा—तीसरा महाव्रत अदत्तादान से निवर्त्तना है। शिष्य ने पूछा—उसमे क्या करना पड़ता है? गुरु ने कहा—ग्राम नगर या जंगल आदि में, थोड़ी या ज्यादा, छोटी या बड़ी, सचित्त या अचित्त वस्तु को किसी के दिये बिना ग्रहण करे नहीं, दूसरे से ग्रहण करावे नहीं और ग्रहण करने वाले को भला समझे नहीं, मन से, वचन से और काय से। तब शिष्य कहता है—भगवन्! मैं अदत्तादान को बुरा समझ कर आपके कथनानुसार उसमे निवर्त्तता हूँ। मैं अदत्तादान का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, और इस पाप को आत्मा से अलग करके तीसरे महाव्रत सर्वथा अदत्ता-दान-विरमण में उपस्थित होता हूँ।

सूक्ष्म (महा) व्रत धारण करने के समय साधु को इस प्रकार प्रतिज्ञा करनी होती है। इस प्रतिज्ञा के अनुसार, साधु बिना दी हुई किसी भी वस्तु को नहीं ले सकते, फिर वह वस्तु चाहे गुरु की हो, शिष्य की हो, या और किसी की हो। जिस वस्तु पर किसी का

अधिकार नहीं है, या जो वस्तु सार्वजनिक है, साधु उसका उपयोग भी विना किसी की आज्ञा के नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसी वस्तु पर साधु का अधिकार नहीं रहा है। संसार की सारी वस्तुओं से साधु अपना अधिकार उठा चुके हैं, इसलिये वे उसी वस्तु का भोगोपभोग कर सकते हैं, जो दूसरे ने दी हो। साधु यदि किसी को अपना शिष्य भी बनावेंगे तो उस शिष्य बनने वाले के अभिभावकों की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर। अभिभावकों की आज्ञा के विना शिष्य बनाने वाले साधु का यह महाव्रत भंग हो जाता है। इसी तरह अन्य सम्प्रदाय के साधु को, विना उसके गुरु की अनुमति प्राप्त किये अपने में मिला लेना भी अदत्तादान है।

मतलब यह कि सूक्ष्म व्रत धारण करने वाला, किसी की वस्तु को विना दूसरे के दिये अपने काम में नहीं ला सकता। गृहस्थ-श्रावक यदि सूक्ष्म व्रत धारण करे तो सार्वजनिक चीज तो क्या, घर की भी उन चीजों को नहीं ले सकता, जिन पर घर के किसी दूसरे आदमी का किंचित् भी अधिकार है। इसलिये जब तक वह गृहस्थ है, तब तक सूक्ष्म अदत्तादान विरमण व्रत का पालन करने पर, उसका गृहस्थ-जीवन नहीं निभ सकता; इस बात को विचार कर, शास्त्रकारों ने गृहस्थ श्रावकों के लिये स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत बतलाया है। उन्होंने श्रावकों के लिये यह व्रत धारण करना आवश्यक बतलाया है।

थूलगअदत्तादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अदिन्नादाणे दुविहे पन्नत्ते तंजहा—सचित्तादत्तादाणे अचित्तादत्तादाणे अ।

—आवश्यकसूत्र अ० ६

अर्थात्—श्रमणोपासक स्थूल अदत्तादान का त्याग करे। स्थूल अदत्तादान दो प्रकार का है। एक सचित्त-अदत्तादान और दूसरा अचित्त-अदत्तादान।

टीकाकार ने स्थूल अदत्तादान की व्याख्या करते हुए कहा है, कि दुष्ट अध्यवसाय पूर्वक अपने अधिकार से परे, अर्थात् दूसरे के अधिकार की वस्तु को, बिना उस वस्तु के अधिकारी की आज्ञा के ग्रहण करना, स्थूल-अदत्तादान है। यह अदत्तादान, दो प्रकार का है। जिसमें जीव है वह सचित्त है और सचित्त की चोरी करना, सचित्त-अदत्तादान है। सचित्त में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटाणु, बीज, वृक्ष, आदि वे सब शामिल हैं, जिनमें जीव है। जिसमें जीव नहीं है, उसे अचित्त कहते हैं। जैसे सोना, चाँदी, ताम्बा, पीतल, रत्न, कंकर, वस्त्र आदि। अचित्त की चोरी करना अचित्त अदत्तादान है।

शास्त्रकारों ने, गृहस्थ-श्रावकों को स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत में उस चोरी का त्याग बताया है, जिसे संसार में चोरी कहते हैं और जिस चोरी के करने से चोरी करने वाला चोर कहा जाता है तथा लोग घृणा से देखते हैं। जो वस्तु सार्वजनिक है, जिस वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं है, उसे लेने या उसका उपभोग करने का त्याग श्रावकों को नहीं कराया जाता।

मतलब यह कि दुष्ट अध्यवसायपूर्वक दूसरे के हकों को हरण करने की क्रिया से निवर्तना, स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत है। इस तीसरे व्रत के धारण करने में, जहाँ साधु तीन करण और तीन योग से अदत्तादान का पूर्णतया त्याग करते हैं, वहां श्रावक दो करण और तीन योग से स्थूल-अदत्तदान का त्याग करता है। जैसा कि आनन्द श्रावक ने किया था। यथा—

तदाणंतरं च णं थूलयं अदिन्नादाणं पच्चक्खाति जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेति, न कारवेति, मणसा वयसा कायसा ॥

उपा० सू० प्र० अ०

अर्थात—स्थूल मृषावाद त्यागने के पश्चात् आनन्द श्रावक ने स्थूल-अदत्तादान का त्याग दो करण—करूंगा नहीं और कराऊँगा नहीं और तीन योग—मन से, वचन से काय से किया।

स्थूल-अदत्तादान विरमण व्रत धारण करने पर, श्रावक के न तो सांसारिक काम ही रुकते हैं, और न वह स्थूल चोरी के पापों में ही पड़ता है। संसार में भी वह प्रामाणिक और विश्वासपात्र माना जाता है। इसलिये श्रावकों को यह व्रत अवश्य धारण करना चाहिये।

बहुत लोग समझते हैं, कि हमारा काम चोरी किये बिना नहीं चल सकता। ऐसा समझना उसी प्रकार की कमजोरी और भूल है, जैसी भूल कमजोर और नशेबाज की होती है—जो यह समझता है, कि बिना नशे के मेरा जीवन नहीं रह सकता। किन्तु वास्तव में यह समझना कि हमारा काम बिना चोरी किये नहीं चल सकता, नितान्त भूल है। बिना चोरी किये जो काम चलेगा, वह काम चोरी करके चलाये गये काम से असंख्यगुना श्रेष्ठ होगा।

अतिचार ।

इस तीसरे व्रत-स्थूल अदत्तादान विरमण के पांच अतिचार हैं।

थूलगअदिन्नादाणवेरमणस्स पंच आइयरा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-तेनाहडे, तक्करप्पओगे विरुद्ध रज्जातिकम्मे, कूडतुल्लकूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे।

उपा० सू० प्र० अ०

अर्थात्--स्थूलअदत्तादान विरमण के पांच अतिचार श्रावक को जानने योग्य हैं, परन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। वे अतिचार ये हैं—स्तेनाहृत, तस्करप्रयोग, विरुद्धराज्यातिक्रम, कूटतुलकूटमानं, तत्प्रतिरूपकव्यवहार।

अतिचार तभी तक अतिचार है, जब कि उसमें बताये हुए काम संकल्प-पूर्वक न किये जावें। संकल्प-पूर्वक यानी जान बूझकर इन्हीं कामों को करने से यही काम अनाचार की गणना में आ जाते

हैं और अनाचार होते ही व्रत भंग हो जाता है। भगवान् ने इन अतिचारों को विशेष रूप से इसलिये बताया है कि अतिचार में बताई हुई बातों का काम गृहस्थी मे विशेष रूप से पड़ता है, इसलिये इन कामों को जानकर इनसे बचने की सावधानी रखे, अन्यथा व्रत टूट जावेगा।

ऊपर कहे हुए पाँच अतिचारों मे से पहला अतिचार तेनाहडे या स्तेनाहृत है। टीकाकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

स्तेनाः–चौरास्तैराहृतं–आनीतं किञ्चित् कुंकुमादि देशान्तरात् स्तेनाहृतं, तत् समर्घमिति लोभाद् गृह्णतोऽ-तिचारः।

अर्थात्—चोरों द्वारा दूसरी जगह से हरण की हुई वस्तु, फिर वह वस्तु कुंकुम ही क्यों न हो, लोभ से ग्रहण करना 'स्तेनाहृत' या 'तेनाहडे' अतिचार है।

कई लोग वस्तु को सस्ती देखकर उसके विषय में बिना कुछ अनुसन्धान किये ही उसे खरीद लेते हैं। परन्तु ऐसा करने मे कभी न कभी चोरी की वस्तु खरीद मे आ जाना स्वाभाविक है। जान-बूझ कर चोरी की वस्तु खरीदना चोरी के ही समान पाप है। इस प्रकार से चोरी की वस्तु खरीदने वाले को राज्य भी चोर के ही समान दण्ड देता है और चोरी की न जान कर साहूकारी रीति से खरीदी हुई वस्तु को बिना मूल्य लौटाये ही ले लेता है। इसलिये प्रत्येक वस्तु को लेते समय यह जाँच कर लेना उचित है कि यह वस्तु चोरी की तो नहीं है। चोरी की वस्तु भूल से भी न खरीदनी चाहिये, अन्यथा वह अतिचार हो जावेगा।

यहाँ प्रश्न होता है कि चोरी के विषय मे मोटे रूप से कैसे जाना जा सकता है कि यह वस्तु चोरी की है? इसके लिये सबसे

बड़ी पहचान वस्तु के बाजार-भाव से विशेष कम दाम में मिलना है। जिस वस्तु का बाजार में एक रुपया लगता है, वही वस्तु यदि आठ आने मे मिल रही हो, तो यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि यह वस्तु कैसी है, जो इतनी कम कीमत में बिक रही है। इस सन्देह पर से अनुसन्धान किया जावे तो चोरी की वस्तु होने पर विना मालूम हुए न रहेगा। संसार में जब कोई किसी वस्तु बाजार भाव से कम मे मांगता है तब वह चीज लाने वाला उस मांगने वाले से प्रायः कहता है कि 'यह चीज चोरी की नहीं है' या कहता है—'सस्ती चीज लेनी हो तो कहीं चोरी की ढूंढो।' मतलब यह कि बाजार भाव से सस्ती प्रायः वही चीज मिलती है, जो चोरी की हो। वैसे तो जिसका काम रुका होता है वह भी बाजार भाव से सस्ती चीज देता है, परन्तु ऐसी चीज इतनी सस्ती नहीं होती जितनी सस्ती चोरी की चीज होती है। इसलिए चोरी की चीज का पहिचान में आना कोई कठिन बात नहीं है। वस्तु के विषय में सन्देह हो और जाँच करने पर भी उसके विषय में विश्वास न हो, तो ऐसी वस्तु का खरीदना ही अच्छा है।

दबा-छिपा कर बेचने वाले लोगों की चीज के विषय में भी इसी प्रकार का सन्देह हो सकता है। ऐसी वस्तु भी विना विश्वास किये लेना ठीक नहीं।

दूसरा अतिचार तक्करप्पओगे या तस्करप्रयोग है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं—

तस्कराः—चौरास्तेषां प्रयोगः हरणक्रियायां प्रेरणमभ्यनुज्ञा तस्करप्रयोगः।

अर्थात्—चोरों को चोरी करने की प्रेरणा करना 'तस्करप्रयोग' या 'तक्करप्पओगे' अतिचार है।

चोरों को चोरी करने की प्रेरणा करना चोरी का अतिचार है। फिर वह प्रेरणा चाहे उत्तेजना देकर की जावे या चोरी के कार्य मे किसी प्रकार से सहायता देकर। राज्यनियमानुसार भी चोरी की प्रेरणा करने वाला चोर के ही समान दण्डनीय माना जाता है। श्रावक को इस अतिचार से बचने के लिये सावधान रहना उचित है।

चोरों को चोरी में सहायता देकर चोरी की प्रेरणा करने वाले लोग आज कल बहुत सुने जाते हैं। जैसे, किसी चोर को चोर जानते हुए भी राजकर्मचारियों का उस चोर को अचोर ठहराना और इसी तरह चोर जानते हुए भी केवल महनताने के लिये वकीलों का चोर को निर्दोप ठहराने की चेष्टा करना। ऐसा करना प्रकारान्तर से चोरों की सहायता करके चोरी की प्रेरणा करना है, जो चोरी के ही समान पाप है। श्रावक को इस विपय मे सावधान रहने की जरूरत है. जिससे भूल से भी चोरो को चोरी मे सहायता देकर चोरी करने की प्रेरणा स्वरूप यह अतिचार न हो। क्योंकि, केवल चोरी करने वाला ही चोर नहीं माना जाता किन्तु चोरी में सहायता या चोरी की प्रेरणा करने वाले भी चोर हैं।

तीसरा अतिचार विरुद्धरज्जातिकम्मे या विरुद्धराज्यातिक्रम है। इस अतिचार की व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखते हैं—

विरुद्धनृपयोर्यद् राज्यं तस्यातिक्रमः अतिलङ्घनं विरुद्ध राज्यातिक्रमः।

अर्थात्—जो राजा लोग परस्पर विरोध रखते हैं, यानी लडते हैं उनके राज्य को एक दूसरे राज्य वाले विरुद्ध नृपराज्य कहते हैं। ऐसे विरुद्ध राज्य का उल्लघंन करना यानी लडाई के समय विरुद्ध

राज्य में आना जाना 'विरुद्धरज्जइक्कम्मे' या 'विरुद्धराज्यातिक्रम' है। ऐसा करने में राजा और धर्म दोनों की मर्यादा भंग होती है।

लड़ाई के समय सुव्यवस्था के लिये राज्य में आवागमन नहीं किया जाता है। क्योंकि ऐसा करने से एक राज्य में दूसरे राज्य का भेद चले जाने का भय रहता है। इसलिये श्रावक को इस अतिचार से बचने की सावधानी रखनी चाहिए।

कई लोग इस अतिचार का अर्थ राजा के विरुद्ध काम करना लगाते हैं, लेकिन इस अतिचार का यह अर्थ नहीं हो सकता। यदि यह अर्थ लगाया जावे, तो बहुत उलटपलट हो जावे और श्रावक को अपने अन्य व्रत पालन करने में बड़ी असुविधा हो। उदाहरणार्थ—राजा कभी यह आज्ञा दे, कि आजकल आबकारी विभाग की आय कम हो गई है अतः सब लोग शराब पिया करें। तो ऐसी दशा में क्या श्रावक शराब पीने लगेगे ? यदि नहीं, तो फिर ऐसी आज्ञा देने वाले राजा का विरोध करने से अतिचार कैसे हो सकता है ? बल्कि ऐसे हुक्म या ऐसे राजा का विरोध न करना पाप का भागी होना है और इसका फल प्रजा को उसी प्रकार भोगना पड़ता है, जिस प्रकार राजा श्रेणिक की उस आज्ञा का, जिसके अनुसार साहूकारो के छः लड़के स्वच्छन्द बना दिये गये थे-विरोध न करने के कारण राजगृही की प्रजा को भोगना पड़ा। यदि राजगृही की प्रजा राजा श्रेणिक की ऐसी आज्ञा का विरोध करती तो अर्जुन माली के हाथ से प्रजा मे के बहुत से निरपराध मनुष्य न मारे जाते। इसलिये इस अतिचार का अर्थ राजा के विरुद्ध काम करना नहीं हो सकता। हाँ राज्य के विरुद्ध काम करना चाहे इस अतिचार का अर्थ लगा लिया जावे। क्योंकि 'राज्य' देश की सुव्यवस्था का नाम है। राजा और राज्य शब्द के अर्थ में अन्तर है। राजा वह कहलाता

है, जो देश की सुव्यवस्था के लिये नियत किया जावे। जिस देश में सुव्यवस्था नहीं है, वहां के लिये राजा के होते हुए भी कहा जाता है कि 'अमुक जगह अराजकता फैली हुई है' अर्थात् सुव्यवस्था नहीं है। यदि यह अतिचार राजा के विरुद्ध काम करने का भी मान लिया जावे, तब भी शास्त्रीय दृष्टि से राजा वही है, जिसे बहुजन समाज देश की सुव्यवस्था के लिये नियत करे। जिस राजा का बहुजन समाज विरोध करता है, परन्तु वह अपनी तलवार के जोर से राजा बना हुआ है और लोग भय के मारे उसे राजा मानते हैं, ऐसा राजा शास्त्रीय दृष्टि से राजा नहीं कहला सकता।

मतलब यह कि इस अतिचार का अर्थ राजा के विरुद्ध काम करना नहीं, किन्तु विरुद्ध राज्य का उल्लंघन करना है।

चौथा अतिचार कूडतुल्लकूडमाणे या कूटतुलाकूटमान है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं—

तुला प्रतीता मानं–कुडवादि कूटत्वं–न्यूनाधिकत्वं न्यूनया ददतोऽधिकया गृह्णतोऽतिचारः।

अर्थात्—तराजू से तोलकर या नाप से नापकर कम देना या लेना 'कूडतुल्ल कूडमाणे' या 'कूटतुला कूटमान' अतिचार है।

नियत बाँट पैमाने से कम ज्यादा वजन या नाप के बाँट पैमाने रखकर उनसे तोलना नापना, या पूरे बाँट पैमाने रखकर भी डण्डी मारना, लेन-देन वाले को धोखा देकर कम ज्यादा नापना तौलना, चोरी है। भूल या असावधानी से कम ज्यादा नापना तौलना अतिचार है। इसलिये श्रावक को इस विषय में सावधानी रखना उचित है, जिसमें अतिचार न हो।

सुनने में आता है कि कई लोग दो तरह के बाँट-पैमाने रखते हैं। एक तो नियत बाँट-पैमाने से कम होते हैं, और दूसरे अधिक। जब किसी को वस्तु देनी होती है, तब तो उन बाँट-पैमाने से तौलते नापते हैं जो कम होते हैं और किसी से लेनी होती है, तब उन बाँट पैमानें से तौल नापकर लेते हैं, जो अधिक होते है। कई लोग पूरे बाँट पैमाने रखकर भी तौलने नापने में ऐसी चालाकी से काम लेते हैं कि दी जाने वाली वस्तु तो कम जावे और ली जाने वस्तु अधिक आवे। श्रावको को इस अतिचार से बचते रहने की सावधानी रखनी चाहिये।

पाँचवाँ अतिचार तप्पडिरूवगववहारे या तत्प्रतिरूपव्यवहार है। इसकी व्याख्या टीकाकार ने इस प्रकार की है—

तेन अधिकृतेन प्रतिरूपकं सदृशं तत्प्रतिरूपकं तस्य विविधमवहरणं व्यवहार: प्रक्षेपस्तत्प्रतिरूपको व्यवहार:, यद्यत्र घटते व्रीह्यादि घृतादिषु पलञ्जीवसादि तस्य प्रक्षेप इतियावत् तत् प्रतिरूपकेण वा वसादिना व्यवहरणं तत्प्रतिरूपकव्यवहार:।

अर्थात्—किसी अच्छी वस्तु में उसी वस्तु के सदृश या उसमें निभने वाली हल्की वस्तु मिला कर देना 'तप्पडिरूवगववहारे' या 'तत्प्रतिरूपव्यवहार' अतिचार है।

किसी अच्छी वस्तु में हल्की वस्तु का संमिश्रण करना, या हल्की वस्तु में थोड़ी अच्छी वस्तु मिला कर उसे अच्छी कह कर देना, या अच्छी वस्तु का नमूना दिखा कर हल्की वस्तु देना, आदि कार्यों की गणना चोरी में है। असावधानी में यदि ऐसा हो जावे तो अतिचार है।

आज कल, इस अतिचार को अनाचार के रूप में सेवन करने की बातें बहुत सुनाई देती हैं। पैसा कमाने के लिये कई लोग अच्छी

वस्तु में हल्की वस्तु का सम्मिश्रण कर देते है। जीरे मे रेत मिलाना, रुई या कपास मे पानी छिटककर उसे अधिक वजन का बनाना, घी मे खोपरे या मूंगफली का तेल या वेजीटेबिल घी मिलाना, शक्कर रंग आदि मे आटा या रेत मिलाना, इसी प्रकार नमूने के विरुद्ध हल्की वस्तु देकर, देशी कहकर विदेशी और पवित्र कह कर अपवित्र चीज देना आदि बाते बहुत सुनी जाती हैं। ऐसा करना चोरी है, अत. श्रावको को सावधानी रखनी चाहिए। अन्यथा भूल मे भी इन कामो के होने पर अतिचार हो जावेगा।

इस तीसरे व्रत को धारण करने से होने वाले लाभ और न धारण करने से होने वाली हानि का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है। मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह इस व्रत को धारण करे। इस व्रत को धारण करने पर जीवन नीतिमय बन जाता है। यदि संसार के सब मनुष्य इस व्रत को धारण करके पूर्ण रीति से पालन करने लगें, तो अशान्ति सदा के लिये नष्ट हो जावे।

व्रत धारण करने से पूर्ण लाभ तभी है, जब व्रत का निरतिचार पालन किया जावे। इसलिये व्रत धारण करने वाले को व्रत में अतिचार न होने देने की विशेष रूप से सावधानी रखनी चाहिए। जो लोग इस व्रत का निरतिचार पालन करते हैं, उनका सदा कल्याण ही कल्याण है।

ब्रह्मचर्यव्रत ।

ब्रह्मचर्य ।

ब्रह्मचर्य शब्द कैसे बना है और यह क्या वस्तु है ? सर्वप्रथम इस बात पर विचार करना चाहिए। हमारे आर्य-धर्म के साहित्य में ब्रह्मचर्य शब्द का उल्लेख मिलता है। जिन दिनों, अवशेष संसार यह भी नहीं जानता था कि वस्त्र क्या होते हैं और अन्न क्या चीज है ? नङ्ग-धड़ङ्ग रहकर, कच्चा मांस खाकर अपना पाशविक जीवन यापन कर रहा था, उन दिनों भारत बहुत ऊँची सभ्यता का धनी था। उस समय भी इसकी अवस्था बहुत उन्नत थी। यहाँ के ऋषियों ने, जो संयम, योगाभ्यास, ध्यान, मौन आदि अनुष्ठानों में लगे रहते थे, संसार में ब्रह्मचर्य नाम को प्रसिद्ध किया। ब्रह्मचर्य का महत्त्व तभी से चला आता है-जब से धर्म की पुनः प्रवृत्ति हुई। भगवान् ऋषभदेव ने धर्म में ब्रह्मचर्य को भी अग्रस्थान प्रदान किया था। साहित्य की ओर दृष्टिपात कीजिए तो विदित होगा कि अत्यन्त प्राचीन साहित्य-आचारांग सूत्र तथा ऋग्वेद में भी ब्रह्मचर्य की व्याख्या मिलती है। इस प्रकार आर्य प्रजा को अत्यन्त प्राचीन काल से ब्रह्मचर्य का ज्ञान मिल रहा है।

१—ब्रह्मचर्य की शक्ति

आजकल ब्रह्मचर्य शब्द का सर्वसाधारण मे कुछ संकुचित-सा अर्थ समझा जाता है। पर विचार करने से मालूम होता है कि वास्तव मे उसका अर्थ बहुत विस्तृत है। ब्रह्मचर्य का अर्थ बहुत उदार है अतएव उसकी महिमा भी बहुत अधिक है। हम ब्रह्मचर्य का महिमागान नहीं कर सकते। जो विस्तृत अर्थ को लक्ष्य में रखकर ब्रह्मचारी बना है, उसे अखण्ड ब्रह्मचारी कहते हैं। अखंड ब्रह्मचारी का मिलना इस काल में अत्यन्त कठिन है। आजकल तो अखंड ब्रह्मचारी के दर्शन भी दुर्लभ हैं। अखंड ब्रह्मचारी में अद्भुत शक्ति होती है। उसके लिए क्या शक्य नहीं है? वह चाहे सो कर सकता है। अखंड ब्रह्मचारी अकेला सारे ब्रह्माण्ड को हिला सकता है। अखंड ब्रह्मचारी वह है जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों को और मन को अपने अधीन बना लिया हो—जो इन्द्रियो और मन पर पूर्ण आधिपत्य रखता हो। इन्द्रियाँ जिसे फुसला नहीं सकतीं, मन जिसे विचलित नहीं कर सकता। ऐसा अखंड ब्रह्मचारी ब्रह्म का शीघ्र साक्षात्कार कर सकता है। अखंड ब्रह्मचारी की शक्ति अजब-गजब की होती है।

२—ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ

परमात्मा के प्रति विश्वास स्थिर क्यों नहीं रहता? यह प्रश्न अनेकों के मस्तक मे उत्पन्न होता है। इसका उत्तर ज्ञानी यह देते हैं कि आन्तरिक निर्बलता ही परमात्मा के प्रति विश्वास को स्थायी नहीं रहने देती। परमात्मा के प्रति विश्वास न होने के जो कारण हैं, उनमे से एक कारण है ब्रह्मचर्य का अभाव। जीवन में यदि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा हुई तो निस्सन्देह ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभाव स्थायी रह सकता है।

ज्ञानी जन कहते हैं—समस्त इंद्रियों पर अंकुश रखना और विषयभोग में इंद्रियों में प्रवृत्त न होने देना, पूर्ण ब्रह्मचर्य है। और वीर्य की रक्षा करना अपूर्ण ब्रह्मचर्य है। आज वीर्य रक्षा तक ही ब्रह्मचर्य की सीमा स्वीकार की जाती है पर वास्तव में सब इंद्रियों और मन को विषयों की ओर प्रवृत्त न होने देना पूर्ण ब्रह्मचर्य है। केवल वीर्यरक्षा अपूर्ण ब्रह्मचर्य है। अलबत्ता अपूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुँचा जा सकता है।

३—वीर्य का दुरुपयोग

देश में आज जो रोग, शोक, दरिद्रता आदि जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होते हैं इन सब का एक मात्र कारण वीर्यनाश है। आज बेकार वस्तु की तरह वीर्य का दुरुपयोग किया जा रहा है। लोग यह नहीं जानते कि वीर्य में कितनी अधिक शक्ति विद्यमान है। इसी कारण विषय-भोग में वीर्य का नाश किया जा रहा है। उसी में आनन्द माना जा रहा है। ऐसा करने से जब अधिक संतान उत्पन्न होती है तो घबराहट पैदा होती है। पर उनसे मैथुन त्यागते नहीं बनता। भारतीयों को इस प्रश्न पर गहरा विचार करना चाहिए। विदेशी लोग ब्रह्मचर्य की महत्ता को भले ही न समझते हों या स्वीकार न करते हों, परन्तु भारत में तो ऐसे महान् ब्रह्मचारी हो गये हैं जिन्होंने ब्रह्मचर्य द्वारा महान् शक्ति लाभ कर जगत के समक्ष यह आदर्श उपस्थित कर दिया है कि ब्रह्मचर्य के प्रशस्त पथ पर चलने में ही मानव समाज का कल्याण है। ब्रह्मचर्य ही कल्याण का मार्ग है। यह समझते-बूझते हुए भी विषय-भोग में सुख मानना और जब संतान उत्पन्न हो तो उसका निरोध करने के लिये कृत्रिम उपाय काम में लाना घोर अन्याय है। वीर्य को वृथा बर्बाद करने के समान दूसरा कोई अन्याय नहीं है।

हमारे अन्दर जो शांति और साहस है वह वीर्य के ही प्रताप से है। अगर शरीर में वीर्य न हो तो मनुष्य हलन-चलन गमनागमन आदि क्रियाएँ करने में भी समर्थ नहीं हो सकता।

४—ब्रह्मचर्य का महत्त्व

जो भाई-बहिन अपने ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे वे संसार को अनमोल रत्न प्रदान करने में समर्थ हो सकेंगे। हनुमानजी का नाम कौन नहीं जानता ? आलंकारिक भाषा में कहा जाता है कि उन्होंने लक्ष्मणजी के लिए द्रोण पर्वत उठाया था। उसी पर्वत का एक टुकड़ा गिर पड़ा, जो गोवर्धन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अलंकार का आवरण दूर कर दीजिए और विचार कीजिए तो इस कथन में हनुमानजी की प्रचण्ड शक्ति का दिग्दर्शन आप पाएँगे। हनुमानजी में इतनी शक्ति कहाँ से आई ? यह महारानी अंजना और महाराज पवनजी की बारह वर्ष की अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना का प्रताप था। उनके ब्रह्मचर्य पालन ने संसार को एक ऐसा उपहार, ऐसा वरदान दिया, जो न केवल अपने समय में ही अद्वितीय था, वरन् आज तक भी वह अद्वितीय समझा जाता है और शक्ति की साधना के लिए उसकी पूजा भी की जाती है।

बहिनो ! अगर तुम्हारी हनुमान सरीखा शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करने की साध है तो अपने पति को कामुक बनाने वाले साज-सिंगार और हाव-भाव त्याग कर स्वयं ब्रह्मचर्य की साधना करो और पति को भी ब्रह्मचर्य पालन करने दो।

५—ब्रह्मचर्य ही जीवन है

अपूर्ण ब्रह्मचर्य केवल वीर्यरक्षा को कहते हैं। वीर्य वह वस्तु है कि जिसके सहारे सारा शरीर टिका हुआ है। यह शरीर वीर्य से

बना भी है। अतएव आँखें वीर्य हैं। कान वीर्य है। नासिका वीर्य हैं। हाथ पैर वीर्य हैं। सारे शरीर का निर्माण वीर्य से हुआ है, अतएव सारा शरीर वीर्य है। जिस वीर्य से सम्पूर्ण शरीर का निर्माण होता है उसकी शक्ति क्या साधारण कही जा सकती है? किसी ने ठीक ही कहा है:—

मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्।

६—अपूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रथम नियम

अपूर्ण ब्रह्म के दस नियमों मे पहिला नियम भावना है। माता-पिता को ऐसी भावना लाना चाहिए कि मेरा पुत्र वीर्यवान् और जगत् का कल्याण करने वाला बने। इस प्रकार की भावना से बहुत लाभ होता है। आप लोगो को अलग-अलग तरह के स्वप्न आते होंगे। इसका कारण क्या है? कारण यही है कि सब की भावना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यह बात प्राय. सभी जानते हैं कि जैसी भावना होती है, वैसा स्वप्न आता है। इसी प्रकार संतान के विषय में माता-पिता की भावना जैसी होती है, वैसी ही सन्तान बन जाती है। जिस प्रकार भावना से स्वप्न का निर्माण होता है, इसी प्रकार भावना से संतान के विचारो और कार्य्यों का निर्माण होता है। नीच विचार करने से खराब स्वप्न आता है और यही बात संतान के विषय में भी समझनी चाहिए। संतान के विषय में तुम जैसी भावना लाओगे, आगे चलकर संतान वैसी ही बन जायगी। अतएव सन्तान के लिए और अपने लिए ब्रह्मचर्य की भावना निरन्तर करनी चाहिए।

७—दूसरा नियम

ब्रह्मचर्य का दूसरा नियम भोजन-सम्बन्धी विवेक है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि जिस खानपान मे आनन्द आता है, वही

भोजन अच्छा है, पर यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। ब्रह्मचारी के भोजन में और अब्रह्मचारी के भोजन मे बडा अन्तर होता है। गीता में रजोगुणी तमोगुणी, और सतोगुणी का भोजन अलग-अलग बताया है। पर आज के लोग जिह्वा के वशवर्ती बनकर भोजन के गुलाम हो रहे हैं। यदि तुम अपनी जीभ पर भी अकुश नही रख सकते तो तुम आगे किस प्रकार बढ़ सकोगे ? विद्याभ्यास और शास्त्र श्रवण का फल यही है कि बुरे कामो में प्रवृत्ति न की जाय। पर आजकल खान-पान के सम्बन्ध में बड़ी भयंकर भूलें हो रही हैं और हालत ऐसी जान पड़ती है मानो विद्याभ्यास का फल खान-पान का भान भूल जाना ही हो।

८—विनाश के कारण

वीर्य नाश का एक कारण एक ही कमरे मे, एक ही बिछौने पर स्त्री-पुरुष का शयन करना भी है। एक ही कमरे में और एक शय्या पर सोने से वीर्य स्थिर नहीं रह सकता। शास्त्र में जहाँ स्त्री और पुरुष के सोने का वर्णन मिलता है वहाँ ऐसा ही वर्णन मिलता है कि स्त्री और पुरुष अलग-अलग शयनागार में सोते थे। पर आज इस विषय में नियम का पालन होता नजर नहीं आता।

निष्क्रिय बैठे रहना भी वीर्यनाश का एक कारण है। जो लोग अपने शरीर और मन को किसी सत्कार्य मे संलग्न नहीं रखते उन लोगों का वीर्य भी स्थिर नहीं रह सकता। यदि शरीर और मन को निष्क्रिय न रक्खा जाय तो वीर्य को हानि नहीं पहुँचती।

रात्रि मे देर तक जागरण करना, सूर्योदय के बाद भी सोते रहना, और अश्लील साहित्य का पढ़ना, यह सब भी वीर्यनाश के कारण हैं। अश्लील चित्र देखने से और अश्लील पुस्तकें पढने से भी वीर्य स्थिर नहीं रहता। आज जहाँ तहाँ अश्लील पुस्तकें पढ़ने

और अश्लील चित्र देखने का प्रचार हो गया है। आजकल लोग महापुरुषो और महासतियो के जीवन-चरित्र पढ़ने के बदले अश्लीलता-पूर्ण पुस्तकें पढ़ने के शौकीन हो गये हैं। उन्हे यह विचार ही नहीं आता कि ऐसा करने से जीवन मे कितने विकार आ घुसे हैं। कहावत है कि—'जैसा वाँचन वैसा विचार।' इस कहावत के अनुसार अश्लील पुस्तकों के पठन से लोगो के विचार भी अश्लील बनते जा रहे हैं।

नाटक-सिनेमा देखना भी वीर्यनाश का कारण है। आजकल नाटक-सिनेमा की धूम मची हुई है। जहाँ देखो वहाँ गरीब से लेकर अमीर तक—सबको नाटक सिनेमाओं में फँसाने का प्रयत्न किया जा रहा है। और इस प्रकार सिनेमा वीर्यनाश के साधक बन रहे हैं।

९—सिनेमा और ग्रामोफोन

आजकल के सिनेमा तो नैतिकता से इतने पतित और निर्लज्जतापूर्ण होते सुने जाते हैं कि कोई भला मानुस अपने बाल-बच्चो के साथ उन्हें देख नहीं सकता। सिनेमाओं के कारण आज लाखो नवयुवक आचरणहीन बन रहे हैं। इन सिनेमाओ की बदौलत भारतीय नारी अपनी महत्ता का विस्मरण कर भारतीय सभ्यता के मूल में कुठाराघात कर रही है। यह अत्यन्त खेद की बात है। इसी प्रकार ग्रामोफोन को भी आनन्द का साधन समझा जाता है पर उसके द्वारा संस्कारो मे कितनी बुराइयाँ घुस रही हैं, इस ओर कितने लोगो का ध्यान जाता है ?

१०—ब्रह्मचर्य साधन

ब्रह्मचर्य पालने वालो को अथवा जो ब्रह्मचर्य पालना चाहते हैं उन्हे विलासपूर्ण वस्त्रों से, आभूषणो से तथा आहार से सदैव बचते

रहना चाहिये । मस्तिष्क में कुविचारों का अंकुर उत्पन्न करने वाले साहित्य को हाथ भी नहीं लगाना चाहिए। जो पुस्तकें धर्म, देश-भक्ति की भावना जागृत करने वाली और चरित्र को सुधारने वाली होती है उनमें सरकार राजनीति की गंध सूंघती है और उन्हें जब्त कर लेती है। पर जो पुस्तकें ऐसा गंदा और घासलेटी साहित्य बढ़ाती है, प्रजा का सर्वनाश कर रही हैं, उनकी ओर से वह सर्वथा उदासीन रहती है। यह कैसी भाग्यविडम्बना है।

११–वीर्य की महिमा

स्वप्न दोष मे भी वीर्य का नाश होता है। कुछ लोग कहा करते हैं कि वीर्य रक्षा से स्वप्न दोष होता है पर यह कथन भ्रमपूर्ण है। इस भ्रामक विचार का परित्याग करके, स्वप्नदोष के असली कारण का पता लगाना चाहिये। फिर उस कारण से बचकर दोष-निवारण का प्रयत्न करना चाहिये। जब तुम सो रहे होओ तब तुम्हारी जेब में से अगर कोई रत्न निकाल कर ले जाने लगे और उस समय तुम जाग उठो तो आँखों देखते क्या रत्न ले जाने दोगे? नहीं, तो फिर स्वप्नदोष के कारण जान-बूझ कर वीर्य को नष्ट होने देना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है?

१२–ब्रह्मचर्य और रसनानिग्रह

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये, साथ ही स्वास्थ्य की रक्षा के लिये जिह्वा पर अंकुश रखने की बहुत आवश्यकता है। जिह्वा पर अंकुश न रखने से अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। इससे विपरीत जो मनुष्य अपनी जीभ पर काबू रखता है उसे प्रायः वैद्यों और डाक्टरों के द्वार पर भटकने की आवश्यकता नहीं रहती।

अनेक लोग ऐसे हैं जिनके लिये जीवन की अपेक्षा भोजन अधिक महत्त्व की वस्तु है। वह जीने के लिए नहीं खाते पर खाने के

लिए जीते हैं। भले ही कोई सीधी तरह इस बात को स्वीकार न करे मगर उसके भोजनव्यवहार को देखने से यह सत्य साफ तौर से प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। यही कारण है कि अधिकांश लोग जीवन के शुभ-अशुभ की कसौटी पर भोजन की परख नहीं करते। वह जिह्वा को कसौटी बनाकर भोजन की अच्छाई-बुराई की जाँच करते हैं। जो जीवन की दृष्टि से भोजन करता है वह स्वास्थ्यनाशक और जीवन को भ्रष्ट करने वाला भोजन कैसे कर सकता है ? कुशल मनुष्य अज्ञात व्यक्ति को सहसा अपने घर में स्थान नहीं देता। तब जिस भोजन के गुण-दोष का पता न हो उसे पेट में स्थान देना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है ? जो ऐसे भोजन को पेट में ठूँस लेता है, उसके पेट को भोजन-पिटारे के सिवा और क्या कहा जा सकता है ?

एक विद्वान् का कथन है कि दुनिया में जितने आदमी खाने-पीने से मरते हैं उतने खाने-पीने के अभाव में नहीं मरते। लोग पहले तो ठूँस-ठूँस कर खाते हैं, फिर डाक्टर की शरण लेते हैं। आज जो आदमी जितनी अधिक चीजें अपने भोजन में समाविष्ट करता है वह उतना ही बड़ा आदमी गिना जाता है; मगर शास्त्र का आदेश यह है कि जो जितना महान् त्यागी है वह उतना ही महान् पुरुष है। शास्त्र में आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बारह करोड़ स्वर्ण मोहरों का और चालीस हजार गायों का धनी होने पर भी उसने अपने खाने-पीने के लिए कुछ गिनती की चीजों की ही मर्यादा कर ली थी। इस प्रकार खान-पान के विषय में जो जितना संयम रखता है वह उतना ही महान् है। जिह्वासंयम से स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। नागरिको को जितना और जैसा भोजन मिलता है, उतना और वैसा किसानों को नहीं। फिर भी अगर दोनों की कुश्ती हो तो किसान ही विजयी होगा। यह कौन नहीं जानता कि सभ्य और बड़े कहलाने वाले लोगों की अपेक्षा किसान अधिक स्वस्थ

और सबल होता है। इसका एक कारण सादा और सात्विक भोजन है।

इस प्रकार अधिक भोजन करने से स्वास्थ्य सुधरने की जगह बिगड़ता है। विकृत भोजन करने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है और चरित्र को भी। इसी कारण विकृत (विगय) भोजन करने का शास्त्र में निषेध किया गया है।

ब्रह्मचर्य का भोजन के साथ घनिष्ट संबंध है। भोगी का भोजन और योगी का भोजन एक-सा नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य की साधना करने वालों को ऐसा और इतना ही भोजन करना चाहिए जिससे शरीर की रक्षा हो सके और जो ब्रह्मचर्य में बाधक न होकर साधक हो। अधिक गरिष्ठ, तेज मसालेदार और परिमाण से अधिक भोजन सर्वथा हानिकारक है।

१३—ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लोगों की भ्रान्त धारणा

विषय-भोग की कामना का नियन्त्रण नहीं हो सकता। यह कामना अजेय है, इस प्रकार की दुर्भावना पुरुष–समाज मे एक बार पैठ पायी, तो भयंकर अनर्थ होगे और उन अनर्थों की परम्परा का सामना करना सहज नहीं होगा।

यद्यपि आजकल भी अनेक लोग हैं, जिनकी यह भ्रान्त धारणा हो गई है कि मनुष्य कामभोग की वासना पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। संभवतः वे लोग मनुष्य को काम-वासना का कीड़ा समझते हैं। पर प्राचीन आर्य-ऋषियों का अनुभव इस धारणा का विरोध करता है। कोई व्यक्तिविशेष ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ रहे यह एक बात है और यह कहना कि ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करना संभव नहीं है, दूसरी बात है। किसी व्यक्ति की

असमर्थता के आधार पर किसी व्यापक सिद्धान्त का निर्माण कर बैठना, सचाई के साथ अन्याय करता है। इस प्रकार असमर्थता की ओट में विषयभोगो का प्रचार करना सर्वथा अनुचित है।

आज भी संसार में ऐसे व्यक्तियो का मिलना असंभव नहीं है जो बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जन-सेवा कर रहे हैं। फिर भीष्म और भगवान् नेमीनाथ जैसे पवित्र ब्रह्मचारियो का उच्च आदर्श जिन्हे मार्ग-प्रदर्शन कर रहा हो, उन भारतवासियो के हृदय में न जाने यह भूत कैसे घुस गया है कि विषय वासना पर काबू रखना शक्य नहीं है। साधु हुए बिना ब्रह्मचर्य का पालन हो ही नहीं सकता और गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान एकदम अशक्यानुष्ठान है!' वास्तव में यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है। मनोबल दृढ होने पर पूर्ण या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है। यही नहीं वरन् विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थ जीवन में भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य पालने से किसी भी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं है। यही नहीं किन्तु अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। कहा भी है:—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभः।

कुछ महानुभावो ने एक नये सिद्धान्त का आविष्कार किया है। उनकी अनोखी सी समझ यह है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने से शरीर में रोग उत्पन्न होते हैं। पर न तो आज तक यह सुना गया है कि ब्रह्मचर्य-पालन से किसी को किसी रोग का शिकार होना पड़ा है और न ऐसा कोई उदाहरण ही देखा गया है। हाँ, ठीक इससे उल्टे जो लोग विषयी होते हैं वे ही रोगों द्वारा सताये जाते हैं। यह बात तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अतएव अपने हृदय से इस भ्रान्ति को निकाल फैंको कि ब्रह्मचर्य से रोग पैदा होते हैं। ब्रह्मचर्य जीवन

है। उससे शक्ति का विकास होता है। जहाँ शक्ति है वहाँ रोगों का आक्रमण नहीं होता। अशक्त और दुर्बल पुरुष ही रोगो द्वारा सताये जाते हैं।

खेद है कि लोगो के मन में यह भ्रम उत्पन्न हो गया है कि विषय भोग की इच्छा का दमन करना अशक्य है। परन्तु जैसे नेपोलियन ने असम्भव शब्द कोश मे से निकाल डालने को कहा था; उसी प्रकार तुम अपने हृदय मे से कामभोग की इच्छा का दमन करने की असम्भवता को निकाल बाहर करो। ऐसा करने से तुम्हारा मनोबल सुदृढ़ बनेगा और तब विषय-भोग की कामना पर विजय प्राप्त करना तनिक भी कठिन न होगा।

त्रिविध ब्रह्मचर्य ।

१—ब्रह्मचर्य शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त

'ब्रह्मचर्य' एक ही शब्द नहीं है, किन्तु 'ब्रह्म' शब्द मे 'चर्य' कृत प्रत्यान्त से बना हुआ संस्कृत शब्द है । ब्रह्म + चर्य = ब्रह्मचर्य । 'ब्रह्म' शब्द के वैसे तो कई अर्थ होते हैं, परन्तु यहाँ यह शब्द वीर्य, विद्या और आत्मा के अर्थ में हैं । 'चर्य' का अर्थ, रक्षण अध्ययन तथा चिन्तन है । इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अर्थ वीर्यरक्षा, विद्याध्ययन और आत्म-चिन्तन है । 'ब्रह्म' का अर्थ उत्तम काम या कुशलानुष्ठान भी होता है, इसलिये ब्रह्मचर्य का अर्थ उत्तम या कुशलानुष्ठान का आचरण भी है । ब्रह्मचर्य शब्द के इन अर्थों पर दृष्टिपात करने से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि जिस आचरण द्वारा आत्म-चिन्तन हो, आत्मा अपने आप को पहचान सके और अपने लिये वास्तविक सुख प्राप्त कर सके, उस आचरण का नाम 'ब्रह्मचर्य' है । इस अर्थ में ब्रह्मचर्य शब्द के ऊपर कहे हुये सब ही अर्थ आ जाते हैं ।

२—ब्रह्मचर्य की परिभाषा

आत्मचिन्तन के लिये, इन्द्रियो और मन पर विजय पाना आवश्यक है। प्राकृतिक नियमो के अनुसार, इन्द्रियाँ मन के, मन बुद्धि के और बुद्धि आत्मा के अधीन एवं आत्मा की सहायिका होनी चाहिये। ऐसा होने पर ही आत्मा अपने आप को जान सकता है, इंद्रियाँ मन और बुद्धि का कर्त्तव्य, आत्मा को बलवान् तथा पुष्ट बनाना है। बलवान् आत्मा ही अपना स्वरूप जान सकता है, विद्याध्ययन मे समर्थ हो सकता है और उत्तम काम तथा कुशलानुष्ठान कर सकता है इसलिये इंद्रियो, मन और बुद्धि का काम आत्मा को बलवान् बनाना, आत्मा के हित को दृष्टि में रखना, आत्मा का अहित करने वाले कामो से दूर रहना है। इन्द्रियों और मन का, अपने इस कर्त्तव्य पर स्थिर रहने का नाम ही 'ब्रह्मचर्य' है।

आत्मा का हित, अपना स्वरूप जानने मे है। आत्मा, अपना स्वरूप-तभी जान सकता है, जब उसके सहायक एवं सेवक इन्द्रियाँ तथा मन, उसके आज्ञावर्ती और शुभचिन्तक हो। विपरीतावस्था मे, आत्मा का अहित स्वाभाविक ही है। आत्मा के सहायक तथा सेवक वही इंद्रियाँ और मन हैं, जो सुख की अभिलाषा से दुर्विषयों की ओर न दौड़ें। इंद्रियो का सुख की अभिलाषा से दुर्विषयों की ओर दौड़ना, तथा मन का इन्द्रियानुगामी होना आत्मा के लिए अहित-कारक है। आत्मा का हित तभी है, जब न तो इन्द्रियाँ दुर्विषयों की ओर दौड़ें और न इंद्रियो के साथ ही साथ मन भी आत्मा का अशुभ-चिन्तक बने। इंद्रियों और मन का दुर्विषयों की ओर न दौड़ना, दुर्विषयो की चाह न करना और सुख की लालसा से उन्हें न भोगना ही 'ब्रह्मचर्य है।'

इन्द्रियाँ पाँच है; कान, आँख, नाक, जीभ और त्वचा। इन पाँचो इन्द्रियो के पाँच विषय हैं, शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श

अर्थात् सुनना देखना सूँघना स्वाद लेना और छूना। यद्यपि ये इन्द्रियाँ हैं सुनने, देखने, सूँघने, स्वाद लेने और स्पर्श करने के लिये ही—इसी कारण इनका नाम ज्ञानेन्द्रियाँ भी हैं—लेकिन ये ज्ञानेन्द्रियाँ तभी होती हैं और तभी आत्मा का हित भी कर सकती हैं, जब दुर्विषयों में लिप्त न हों, उनके भोग में सुख न मानें, और अपने आप को दुर्विषय-भोग के लिये न समझें। इसी प्रकार मन भी आत्मा का हित करने वाला तभी है, जब वह अपने पद से भ्रष्ट होकर, इन्द्रियों का अनुगामी न बन जावे और न इन्द्रियो को ही दुर्विषयों की ओर जाने दे। मन का काम इन्द्रियों को सुख देना नहीं, किन्तु आत्मा को सुख देना है और इन्द्रियों को भी उन्हीं कामों में लगाना है, जिनसे आत्मा सुखी हो। इन्द्रियों और मन का, इस कर्त्तव्य को समझ कर इस पर स्थिर रहना, इसी का नाम 'ब्रह्मचर्य है।

३—गांधीजी कृत ब्रह्मचर्य की परिभाषा

गाँधीजी ने 'ब्रह्मचर्य' के अर्थ में लिखा है—"ब्रह्मचर्य का अर्थ है सभी इंद्रियों और सम्पूर्ण विकारों पर पूर्ण अधिकार कर लेना। सभी इन्द्रियो को तन, मन और वचन से, सब समय और सब क्षेत्रों में संयम करने को 'ब्रह्मचर्य' कहते हैं।"

४—ब्रह्मचर्य की व्यावहारिक परिभाषा

यद्यपि सब इन्द्रियाँ और मन का दुर्विपयो की ओर न दौड़ने का नाम ब्रह्मचर्य है, लेकिन व्यवहार मे, ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल 'वीर्यरक्षा' ही लिया जाता है। इस व्यावहारिक अर्थ—अर्थात् पूर्ण रूपेण वीर्यरक्षा—से भी इन्द्रियों और मन का दुर्विपयो की ओर न दौड़ना ही मतलब निकलेगा। पूर्णतया वीर्यरक्षा तभी हो सकती है, जब सभी इन्द्रियाँ और मन दुर्विपयों की ओर न दौड़े। यदि एक भी

इन्द्रिय दुर्विषय की ओर दौड़ती है—उसे चाहती है और उसमें सुख भी मानती है—तो सम्पूर्णतया वीर्यरक्षा कदापि नहीं हो सकती। इसलिये, पूर्ण रीति से वीर्यरक्षा का अर्थ भी वही है, जो ऊपर कहा गया है अर्थात् सर्वप्रकार के असंयम परित्याग रूप-इन्द्रियों और मन का संयम।

५—ब्रह्मचर्य के तीन भेद और उनका सम्बन्ध

ब्रह्मचर्य मन, वचन और शरीर से होता है, इसलिए ब्रह्मचर्य के तीन भेद होते हैं अर्थात् मानसिक-ब्रह्मचर्य, वाचिक-ब्रह्मचर्य और शारीरिक-ब्रह्मचर्य। मन, वचन और काय इन तीनो द्वारा पालन किया गया ब्रह्मचर्य ही पूर्ण ब्रह्मचर्य है अर्थात् न मन में ही अब्रह्मचर्य की भावना हो, न वचन द्वारा ही अब्रह्मचर्य प्रगट हो और न शरीर द्वारा ही अब्रह्मचर्य की क्रिया की गई हो; इसका नाम पूर्ण ब्रह्मचर्य है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है—

कायेन मनसा वाचा, सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो, ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥

'शरीर, मन और वचन से, सब अवस्थाओं में, सर्वदा और सर्वत्र मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है।

मैथुन में, मैथुनाङ्ग भी शामिल हैं, जिनका वर्णन आगे 'ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय' प्रकरण में किया जायगा।

कायिक ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं, जिसके सद्भाव में, शरीर द्वारा अब्रह्मचर्य की कोई क्रिया न की गई हो अर्थात् शरीर से अब्रह्मचर्य में प्रवृत्ति न हुई हो। मानसिक ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं जिसके सद्भाव मे दुर्विषयों का चिन्तन न किया जावे, अर्थात् मन में अब्रह्मचर्य की

भावना भी न हो। वाचिक-ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं जिसके सद्भाव में अब्रह्मचर्य सम्बन्धी वचन न कहा जावे। इन तीनो प्रकार के ब्रह्मचर्य के सद्भाव को पूर्ण ब्रह्मचर्य कहते हैं।

कायिक, मानसिक और वाचिक ब्रह्मचर्य का, परस्पर कर्त्ता, क्रिया और कर्म का सा सम्बन्ध है। पूर्ण ब्रह्मचर्य वही हो सकता है जहाँ उक्त प्रकार के तीनो ब्रह्मचर्य का सद्भाव हो। एक के अभाव में दूसरे और तीसरे का—एकदम से नहीं तो शनैः-शनैः—अभाव स्वाभाविक है।

सारांश यह कि इन्द्रियों का दुर्विषयों से निवृत्त होने, मन का दुर्विषयों की भावना न करने, दुर्विषयों से उदासीन रहने, मैथुनाङ्गों सहित सब प्रकार के मैथुन त्यागने और पूर्ण रीति से, वीर्यरक्षा करने एवं कायिक, वाचिक और मानसिक शक्ति को आत्मचिन्तन, आत्महित-साधन, तथा आत्मविद्याध्ययन में लगा देने का ही नाम 'ब्रह्मचर्य है।

लाभ और माहात्म्य !

तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं ।

—सूत्रकतांग सूत्र ।

'ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप है ।'

ब्रह्मचर्य से क्या लाभ होता है, और ब्रह्मचर्य का कैसा माहात्मय है, यह संक्षिप्त में नीचे बताया जाता है ।

१—शरीर और धर्म का सम्बन्ध

आत्मा का ध्येय, संसार के जन्म-मरण से छूट कर, मोक्ष प्राप्त करना है। आत्मा इस ध्येय को तभी प्राप्त कर सकता है, जब उसे शरीर की सहायता हो—अर्थात् शरीर स्वस्थ हो। बिना शरीर के धर्म नहीं हो सकता और बिना धर्म के आत्मा अपने उक्त ध्येय तक नहीं पहुँच सकता। काव्य ग्रन्थों में कहा है—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।

—कुमारासम्भव ।

'शरीर ही, सब धर्मों का प्रथम और उत्तम साधन है ।'

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का, आरोग्य ही मूल साधन है।

३–ब्रह्मचर्य से शारीरिक स्वस्थता।

आत्मा को, अपने ध्येय तक पहुँचने के लिये शरीर की आवश्यकता है, और वह भी आरोग्यता के साथ। अस्वस्थ शरीर, धर्म-साधन में असमर्थ रहता है। ब्रह्मचर्य से इस अंग की पूर्ति होती है, अर्थात् शरीर स्वस्थ रहता है, कोई रोग पास भी नहीं फटकने पाता।

वैद्यक ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य से शारीरिक लाभ बताने के लिये कहा है:—

मृत्युव्याधिजरानाशि, पीयूषपरमौषधम् ।
ब्रह्मचर्यं महायत्नः, सत्यमेव वदाम्यहम् ॥

'मैं सत्य कहता हूँ कि मृत्यु, व्याधि और बुढ़ापे का नाश करने वाली अमृत के समान औषध, ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य, मृत्यु रोग और बुढ़ापे का नाश करने वाला महान् यत्न है।'

४–ब्रह्मचर्य से धर्म-रक्षा।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य से शरीर स्वस्थ रहता है, जिससे धर्म का पालन होता है। इतना ही नहीं, किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करना भी धर्म ही है। यह धर्म का प्रधान अंग एवं धर्म का प्रधान रक्षक है। इसके लिये प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है:—

पउमसरतलागपालिभूयं, महासगढअरगतुंबभूयं, महानगरपागारकवाडफलिहभूयं, रज्जु-पिणद्धो व्व इंदकेऊ, विसुद्धणेगगुण संपिणद्धं, जम्मि य भग्गम्मि होइ सहसा

सव्वं संभग्गमहियचुणियकुसल्लियपल्लट्टपडियखंडियपरिस-डियविणासियं विणयसीलतवनियमगुणसमूहं ।

'ब्रह्मचर्य, धर्म रूप पद्मसरोवर का पाल के समान रक्षक है। यह दया, क्षमा आदि गुणों का आधार-भूत, एवं धर्म की शाखाओ को आधार-स्तम्भ है। ब्रह्मचर्य, धर्म रूप महानगर का कोट है, और धर्म रूप महानगर का प्रधान रक्षक-द्वार है। ब्रह्मचर्य के खण्डित होने पर, सभी प्रकार के धर्म, पहाड़ से गिरे हुए कच्चे घड़े के समान चूर-चूर हो जाते हैं।'

ब्रह्मचर्य, धर्म का कैसा आवश्यक अंग है, यह बताते हुए और ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हुए एक मुनि ने कहा है:—

पंच महव्वय-सुव्वयमूलं, समणमणाइल साहुसुचिण्णं।
वेरविरामण पज्जवसाणं सव्वसमुद्द महोदहितित्थं ॥ १ ॥
तित्थकरेहिं सुदेसिय मग्गं, नरगतिरिच्छविवज्जियं मग्गं।
सव्वपवित्तसुनिम्मियसारं, सिद्धिविमाण-अवंगुयदारं ॥२॥
देवनरिंदनमंसियपूइयं सव्वजगुत्तममंगलमग्गं ।
दुद्धरिसं गुणनायकमेक्कं मोक्खपहरसवडिंसगभूयं ॥३॥

'ब्रह्मचर्य, पाँच महाव्रत का मूल है अतः उत्तम व्रत है। अथवा पंच महाव्रत वाले साधुओं के उत्तम व्रतों का ब्रह्मचर्य मूल है। ऐसे ही श्रावकों के सुव्रतो का भी ब्रह्मचर्य मूल है। ब्रह्मचर्य, दोष रहित है, साधुजनों द्वारा भलीभाँति पालन किया गया है, वैरानुबन्ध का अन्त करने वाला है और स्वयंभूरमण महोदधि के समान दुस्तर संसार से तरने का उपाय है।

ब्रह्मचर्य, तीर्थङ्करों द्वारा सदुदेपशित है, उन्हीं के द्वारा इसके पालन का मार्ग बताया गया है, और इसके उपदेश द्वारा नरक गति तथा तिर्यक् गति का मार्ग रोक कर सिद्ध गति तथा विमानों के द्वार खोलने का पवित्र मार्ग बताया गया है।

यह ब्रह्मचर्य देवेन्द्र और नरेन्द्रो से पूजित लोगों के लिए भी पूजनीय है, समस्त लोकों में सर्वोत्तम मंगल का मार्ग है सब गुणो का अद्वितीय तथा सर्वश्रेष्ठ नायक है और मोक्ष-मार्ग का भूषण रूप है।

६—ब्रह्मचर्य ही तप है

मोक्ष के प्रधान साधन–तप मे भी, ब्रह्मचर्य को पहला स्थान है। जैन-शास्त्रों मे ब्रह्मचर्य सब से उत्तम तप माना गया है। इसका एक प्रमाण इस प्रकरण के प्रारम्भ में दिया जा चुका है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी कहा है:—

जंबू ! एत्तो य बंभचेरं तव-नियम-नाण दंसणचरित्त-सम्मत्तविणयमूलं, यम-नियम-गुणप्पहाणजुत्तं, हिमवंतमहंत तेयमंतं पसत्थगंभीरथिमियमज्झं।

हे जम्बू ! यह ब्रह्मचर्य, उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चरित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है। जिस प्रकार सब पर्वतों मे हिमालय महान् और तेजस्वी है, उसी प्रकार सब तपस्याओं मे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।

अन्य ग्रन्थो मे भी ब्रह्मचर्य को उत्तम तप माना गया है। वेद भी ब्रह्मचर्य को ही तप मानते हैं। जैसे:—

तपो वै ब्रह्मचर्यम् ।

ब्रह्मचर्य ही तप है।

गीता मे भी ब्रह्मचर्य को तप माना है। उसमें कहा है:—

ब्रह्मचर्यमहिंमा च, शारीरं तप उच्यते ।

अर्थात्-ब्रह्मचर्य और अहिसा, शरीर का उत्तम तप है।'

इस प्रकार अन्य ग्रन्थकारो ने भी ब्रह्मचर्य को उत्तम तप माना है।

७—ब्रह्मचर्य से पारलौकिक लाभ

पारलौकिक लाभ का ब्रह्मचर्य का एक प्रधान साधन है। ब्रह्मचर्य से आत्मा परलोक सम्बन्धी सभी सुखों को प्राप्त कर सकता है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है:—

अज्जव साहुजणाचरियं मोक्खमग्गं विसुद्ध सिद्धि गइ-निलयं सासयवव्वावाहमपुणब्भवं पसत्थं सोमं सुभं सिवम-मक्खयकरं । जइवरसारक्खियं सुचरियं सुभासियं नवरि-मुणिवरेहिं महापुरिसधीरसूरधम्मियधिइमंताण य सया विसुद्धं भव्वं भव्वजणाणुचिण्णं निस्संकियं निब्भयं नित्तुसं निरायासं ।

'ब्रह्मचर्य, अन्तःकरण को पवित्र एवं स्थिर रखने वाला है, साधुजनों से सेवित है, मोक्ष का मार्ग है और सिद्धगति का गृह है, शाश्वत है, वाधा रहित है, पुनर्जन्म को नष्ट करने के कारण अपुनर्भव है, प्रशस्त है, रागादि का अभाव करने से सौम्य है, सुख-

स्वरूप होने से शिव है, दुःख सुखादि द्वन्द्वो से रहित होने से अचल है अक्षय तथा अक्षत है, मुनियों द्वारा सुरक्षित एव प्रचारित है, भव्य है, भव्य-जनो द्वारा आचरित है, शङ्का-रहित है, निर्भयता का देने वाला, विशुद्ध तथा झंझटो से दूर रखने वाला एव खेद और अभिमान को नष्ट करने वाला है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में आगे कहा है:—

जम्मि य आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं।
सीलं तवो य विणओ य संजमो य खंती गुत्ती मुत्ती तहेव
इहलोइय पारलोइय जसेय कित्ती य पच्चओ य।

'ब्रह्मचर्य की आराधना से सभी व्रत आराधित होते हैं। तप, शील, विनय, सयम, क्षमा, गुप्ति और मुक्ति सिद्ध होती है, तथा इस लोक और परलोक में यश-कीर्ति की विजय-पताका फहराती है।'

अन्य ग्रन्थकार भी ब्रह्मचर्य से परलोक सम्बन्धी लाभ बताते हुए कहते हैं:—

समुद्रतरणे यद्वत् उपायो नौः प्रकीर्तिता।
संसारतरणे यद्वत् ब्रह्मचर्य्यं प्रकीर्तितम्॥

—स्मृति।

समुद्र से पार जाने के लिये, जिस प्रकार नौका श्रेष्ठ-साधन है, उसी प्रकार संसार से तरने के लिए ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट साधन है।

ग्रन्थकारो ने यज्ञ भी ब्रह्मचर्य को ही माना है। जैसे—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव।

छान्दोग्योपनिषद्।

'जिसे यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है।'

संसार-बन्धन से छूट कर, मोक्ष-प्राप्ति के लिये चारित्र धर्म बताते हुये भगवान् ने जिन पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया है, उनमें से ब्रह्मचर्य चौथा महाव्रत है। ब्रह्मचर्य के बिना, चारित्र-धर्म का पूर्ण-रूपेण पालन नहीं हो सकता। आत्मा को संसार-बन्धन से छुड़ा कर, मोक्ष दिलाने वाले चारित्र-धर्म का, ब्रह्मचर्य एक प्रधान और आवश्यक अंग है। ब्रह्मचर्य के बिना न तो अब तक कोई मुक्त हुआ ही है, न हो ही सकता है। सिद्धात्माओं को सिद्ध गति प्राप्त कराने वाला यह ब्रह्मचर्य ही है। इस प्रकार पारलौकिक लाभ का ब्रह्मचर्य एक प्रधान साधन है।

८—ब्रह्मचर्य से इहलौकिक लाभ

ब्रह्मचर्य से पारलौकिक ही नहीं, किन्तु इह-लौकिक लाभ भी है। ऊपर बताया जा चुका है कि ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य अच्छा रहता है। स्वास्थ्य अच्छा रहने से ही इह-लौकिक कार्य सुचारु-रूप से सम्पादन हो सकते हैं।

सांसारिक-जीवन में, शरीर स्वस्थ, सुन्दर, बलवान्, एवं चिरायु रहने की, विद्या की, धन की, कर्त्तव्य-दृढ़ता की और यशादि की अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं। प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि ने ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हुये कहा है:—

> चिरायुषः सुसंस्थानां दृढसंहनना नराः।
> तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः॥

ब्रह्मचर्य से शरीर चिरायु, सुन्दर, दृढ़-कर्त्तव्य तेज-पूर्ण और पराक्रमी होता है।

वैद्यक ग्रन्थों में भी कहा गया है:—

ब्रह्मचर्यं परं ज्ञानं ब्रह्मचर्यं परं बलं।
ब्रह्मचर्यमयो ह्यात्मा ब्रह्मचर्यैव तिष्ठति॥

'ब्रह्मचर्य ही सब से उत्तम ज्ञान है, अपरिमित बल है, यह आत्मा निश्चय रूप से ब्रह्मचर्यमय है और ब्रह्मचर्य से ही शरीर में ठहरा हुआ है।'

इन प्रमाणों से यह बात भली-भाँति सिद्ध हो जाती है, कि ब्रह्मचर्य से शरीर सुन्दर भी रहता है, बलवान् भी रहता है, दीर्घजीवी भी होता है और यश-कीर्ति भी प्राप्त होती है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य, इहलौकिक सुखो का भी साधन है। लौकिक वैभव, विद्या, धन आदि तभी प्राप्त होते हैं, जब शरीर स्वस्थ हो और उसमें बल तथा साहस हो। ब्रह्मचर्य से शरीर स्वस्थ रहता है और शरीर में बल तथा साहस भी रहता है।

विद्वानों का मत है कि ब्रह्मचर्य के बिना विद्या प्राप्त नहीं होती। विद्या-प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य का होना आवश्यक है। अथर्ववेद में कहा है :—

ब्रह्मचर्येण विद्या।

'ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त होती है।'

विदुर नीति मे कहा है :—

विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात्!

'यदि विद्या के इच्छुक हो तो ब्रह्मचारी बनो।'

तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्य, लौकिक और लोकोत्तर, दोनो ही सुखो का प्रधान साधन है। इसकी पूर्ण-रूपेण प्रशंसा करना तो समुद्र को हाथो के सहारे तैरने का साहस करना है।

९—ब्रह्मचर्य पर अपवाद।

कुछ लोगो का कथन है, कि पूर्ण ब्रह्मचारी को मोक्ष या स्वर्ग प्राप्त नहीं होता। क्योंकि पूर्ण ब्रह्मचारी निःसन्तान रहते हैं और :—

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।

सूक्ति।

'पुत्रहीन की गति नहीं होती, और स्वर्ग तो कभी भी नहीं मिलता है।'

इस श्लोक से, पूर्ण ब्रह्मचारी को स्वर्ग-मोक्ष प्राप्ति से वंचित बताया जाता है, लेकिन इस श्लोक को खण्डन करने वाला दूसरा यह प्रमाण भी है :—

स्वर्गं गच्छन्ति ते सर्वे ये केचिद् ब्रह्मचारिणः।

'जितने भी ब्रह्मचारी है, वे सब स्वर्ग को जाते हैं।'

और भी कहा है कि :—

अनेकानि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि राजेन्द्र, अकृत्वा कुलसन्ततिम्॥

हे राजन्! हजारों मनुष्य ऐसे हुए हैं जो आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर कुल-सन्तति को न बढ़ाते हुए भी दिव्य गति को प्राप्त हुए हैं।'

जैन-शास्त्रानुसार. स्वर्ग-प्राप्ति कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात तो मोक्ष प्राप्त करना है। ब्रह्मचर्य से संसार की सभी ऋद्धि

मिल जाय, स्वर्ग का राज्य भी प्राप्त हो जाय, तब भी यदि इसके द्वारा मोक्ष प्राप्त न हो सकता होता, तो जैन-शास्त्र इसे धर्म का अंग न मानते। क्योंकि जैन-शास्त्र उसी वस्तु को उपयोगी और महत्त्व की मानते हैं, जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त हो। लेकिन उक्त प्रमाण जिन ग्रन्थों के है, वे ग्रन्थ स्वर्ग को ही अन्तिम ध्येय मानते हैं। फिर भी ऊपर दिये हुए श्लोकों में से, पहला श्लोक दूसरे श्लोक से अप्रामाणिक ठहरता है।

अब्रह्मचर्य से हानि ।

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥

उत्तराध्ययन सूत्र ३२ वां अ०

'जिस प्रकार, किंपाकफल वर्ण और रस से मनोरम और स्वादिष्ट होते हैं, परन्तु खाने पर मृत्यु का आलिंगन करना पड़ता है, उसी प्रकार काम-भोग भोगने में तो अच्छे लगते हैं, परन्तु उनका परिणाम बहुत दुःखदायी होता है। इसलिये काम-भोग को त्यागो।

इन्द्रियों का दुर्विषय-लोलुप न होने और वीर्य का पूर्णरूपेण सुरक्षित रहने का नाम ही ब्रह्मचर्य है। इसके विपरीत अर्थात् इंद्रियों का दुर्विषयलोलुप होने, दुर्विषय-भोग में सुख मानने और वीर्य खण्डित करने का नाम अब्रह्मचर्य है। अब्रह्मचर्य का दूसरा नाम

मैथुन भी है, लेकिन मैथुन मे मैथुनाङ्ग भी शामिल हैं। ग्रन्थकारो ने ब्रह्मचर्य का रूप बताने के लिये मैथुन की व्याख्या इस प्रकार की है–

स्मरणं कीर्त्तनं केलि : प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

'स्मरण, कीर्त्तन, केलि, अवलोकन, गुप्तभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया-निष्पत्ति, ये मैथुन के आठ अंग हैं। इन लक्षणो से परे रहने का नाम ब्रह्मचर्य है।'

देखी या सुनी हुई स्त्रियो को याद करना, 'स्मरण' नामक मैथुन का पहला अग है। स्त्रियों की प्रशंसा करना, उनके विषय में बात-चीत करना—'कीर्त्तन' मैथुन का दूसरा अंग है। स्त्रियों के साथ किसी प्रकार के खेल खेलना 'केलि' मैथुन का तीसरा अंग है। काम दृष्टि से किसी स्त्री को देखना, 'प्रेक्षण' मैथुन का चौथा अंग है। स्त्रियों से छिप कर बातें करना 'गुह्य भाषण' पाँचवां अंग है। स्त्री सम्बन्धी भोग भोगने का विचार लाना 'संकल्प' मैथुन का छठा अंग है। स्त्री–प्राप्ति की चेष्टा करना, 'अध्यवसाय' नाम का सातवाँ और स्त्री सम्भोग* द्वारा वीर्य नष्ट करना, 'क्रियानिष्पत्ति' मैथुन का आठवाँ अग है।

ब्रह्मचर्य के विरोधी अब्रह्मचर्य-मैथुन के उक्त आठ अंगों में से जिस २ अंग की पूर्ति होती जाती है, ब्रह्मचर्य, उतने ही उतने अंश में

*जिस प्रकार पुरुषों के लिये स्त्री सम्बन्धी आठों कार्य त्याज्य हैं इसी इसी तरह स्त्रियों के लिये पुरुष सम्बन्धी आठों बातें त्याज्य हैं।

नष्ट होता जाता है और मैथुन के आठो अंगो की पूर्ति होने पर, पूर्ण रूपेण नष्ट हो जाता है। मैथुन और ब्रह्मचर्य, परस्पर विरोधी हैं, इसलिए जहाँ एक है, वहाँ दूसरा नहीं ठहर पाता।

मैथुन और मैथुनाङ्ग का नाम ही अब्रह्मचर्य है। वीर्य भी मैथुन से ही नष्ट होता है। इन्द्रियो का दुर्विषय-लोलुप होना ही मैथुन है, और मैथुन ही इन्द्रियो की दुर्विषय-लोलुपता है।

१—आंशिक मैथुन सेवन से हानि

मैथुन के किसी भी एक अंग के सेवन से अर्थात् आंशिक रूप मे ब्रह्मचर्य खण्डित होने से मैथुन का सर्वाङ्ग में सेवन और ब्रह्मचर्य का नाश होना स्वाभाविक है। क्योकि मैथुन के किसी भी एक अंग के सेवन से एक न एक इन्द्रिय दुर्विषय-लोलुप बनेगी ही, और किसी भी एक इन्द्रिय के दुर्विषयलोलुप बन जाने पर सभी इन्द्रियाँ दुर्विषय-लोलुप बन जाती हैं। उदाहरण के लिये, यदि कान स्त्री-शब्द में सुख मानते हैं, तो नाक, उनके शरीर की गन्ध मे, जीभ उनसे संभाषण करने मे, नेत्र उनका रूप देखने में और त्वचा उनका स्पर्श करने में सुख मानेगी। क्योंकि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषाम् यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्॥

मनुस्मृति अ० २

'जिस प्रकार, जल की मशक मे एक भी छेद हो जाने पर फिर उसमे जल नहीं ठहरता, उसी प्रकार सब इद्रियो मे से, एक भी इन्द्रिय के विषय-लोलुप बनने पर, बुद्धि नष्ट हो जाती है।

बुद्धि के नष्ट होने पर, इंद्रिय-संयम कहाँ? स्वभावतः विषय-प्रिय इंद्रियाँ फिर तो दुर्विषयो की ही ओर दौड़ती हैं। बुद्धि के नष्ट हो जाने से, इद्रियाँ निरंकुश हो जाती हैं और फिर आत्मा को दिन-प्रतिदिन पतन की ही ओर अग्रसर करती हैं। नष्टबुद्धि इंद्रियों के वश होकर, यह सिद्धान्त मानने लगता है:—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्काम हेतुकम् ॥

गी० अ० १६

'जगत् असत्य, निराधार और अनीश्वर है। यह यो ही बना है। काम के सिवा इस संसार के बनने का दूसरा क्या हेतु हो सकता है?'

इस सिद्धान्त को मानकर फिर—

ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।

गी० अ० १६

तात्पर्य यह है कि मैथुन के किसी एक भी अंग के सेवन से अर्थात् एक भी इन्द्रिय की दुर्विषय-लोलुपता से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है और अब्रह्मचर्य, पूर्ण-रूपेण अपना आधिपत्य जमा लेता है।

२—अब्रह्मचर्य की निन्दा और उससे हानि

संक्षिप्त में, अब्रह्मचर्य से तात्पर्य है—दुर्विषयभोग, मैथुन, या वीर्य का खण्डित करना। जैन-शास्त्रों ने ही नहीं, किन्तु अन्य ग्रन्थ-कारो ने भी इस अब्रह्मचर्य की लौकिक और लोकोत्तर दोनो ही दृष्टियों से बड़ी निन्दा की है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में अब्रह्मचर्य को चौथा अधर्म-द्वार मानते हुए कहा है:—

जम्बू! अबंभं सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पत्थणिज्जं पंकपणगपासजालभूयं थीपुरिसनपुंसवेदचिंधं, तवसंजम-बंभचेरविग्धं, भेदायतणबहुपमायमूलं, कायरकापुरिससेवियं, सुयणजणवज्जणिज्ज, उड्ढनिरयतिरियतिलोकपइट्ठाणं, जरामरणरोगसोगबहुलं, बधबंधविघातदुव्विघायं, दंसण-चरित्तमोहस्स हेउभूयं, चिरपरिगयमणुगयं दुरंतं।

'हे जम्बू ! चौथा अधर्म-द्वार, अब्रह्मचर्य है। देव असुर, मनुष्य, लोक-पति आदि इस अब्रह्मचर्य-रूपी कीचड़ की दल-दल में फंसे हुए हैं। देव असुर, मनुष्यादि को यह जाल के समान फंसाने वाला है। पुरुषों के लिए यह नपुंसकत्व का कारण है। तप, संयम ब्रह्मचर्य के लिए विघ्न-रूप है, अर्थात् इन्हें नाश करने वाला है। विपय कपाय आदि प्रमादों का मूल है। इन्द्रियों के समीप जो कायर तथा कापुरुष हैं, उन लोगों द्वारा सेवित एवं सज्जनों द्वारा निन्दित वर्ज्य है। तीनों लोक में अप्रतिष्ठित एवं जरा मृत्यु रोग शोक की वृद्धि करने वाला है। वध, बन्धन, आघात तथा दर्शन-मोहनीय और चरित्र-मोहनीय कर्म का हेतु है। प्राणियों को इसका परिचय दीर्घ-काल से है, इसलिए इसका अन्त करना कठिन है।'

प्रश्नव्याकरण सूत्र में, आगे अब्रह्मचर्य के तीस नाम बताते हुये यह बताया गया है कि बड़ी-बड़ी ऋद्धि वाले चक्रवर्ती तथा माण्डलिक राजाओं की भी इससे अतृप्ति रही है। इसकी निन्दा करते हुए इसी सूत्र में आगे कहा है:—

मेहुणसन्नापगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं विसयविसउदीरएसु अवरे परदारेहिं हम्मंति·····

'मैथुन मे गृद्ध ब्रह्मचर्य के अज्ञान से भरे हुए लोग परस्पर एक दूसरे की घात करते हैं। विष देकर मार डालते हैं। यदि परदारा हुई तो उस स्त्री का पति जारपति की घात करता है। इस प्रकार अब्रह्मचर्य मृत्यु का कारण है। अब्रह्मचर्य से धन और स्वजन का नाश होता है एवं परदारा में गृह स्त्री-मोह से परिपूर्ण घोडे, हाथी, बैल, भैंसे, मृग आदि पशु परस्पर लड़ कर मर जाते है और अपनी सन्तान तक की घात कर डालते हैं। इसी प्रकार पशु और मनुष्य भी परस्पर युद्ध करते हैं। अब्रह्मचर्य के कारण मित्रों मे भी वैर-भाव उत्पन्न हो जाता है। अब्रह्मचर्य से सिद्धान्त द्वारा प्ररूपित चारित्र-रूपी मूल-गुण का भेदन हो जाता है। श्रुत-चारित्र-धर्म में रत जीव भी स्त्री-संग से अपयश तथा अकीर्ति को प्राप्त होते हैं। अब्रह्मचर्य से शरीर रोगी बना रहता है और अन्त में शीघ्र ही मृत्यु के मुख में पड़ना पड़ता है। अब्रह्मचर्य से पर-स्त्री-गमन के कारण कितने ही जीव बंधन मे पड़ते हैं और मारे जाते हैं। अब्रह्मचर्य के मोह से पराभव को पाये हुये जीव इस प्रकार दुर्गति के अधिकारी बनते हैं।'

प्रश्नव्याकरण सूत्र मे आगे यह भी बताया गया है, कि अब्रह्मचर्य के कारण स्त्रियो के लिये कैसे-कैसे महान् संग्राम हुए हैं। स्त्रियो के लिये होने वाले संग्रामों का वर्णन करने के पश्चात् प्रश्नव्याकरण सूत्र में लिखा है :—

इहलोए ताव नट्ठा परलोए य नट्ठा महया मोहतिमिसंधयारे घोरे तसथावरसुहुमबादेरसु य पज्जत्तमपज्जत्तसाहारण-सरीरपत्तेयसरीरसु य……

'इन्द्रियो का दुर्विषय भोग रूप मैथुन, इस लोक मे बन्धनकर्त्ता और परलोक में अनिष्टकारी है। महा मोह-रूप अन्धकार का स्थान

है। त्रस, स्थावर, सूक्ष्म बादर पर्याप्त अपर्याप्त आदि पर्यायों से चतु-र्गतिरूप संसार मे विशेष समय तक और बारम्बार परिभ्रमण कराने वाले मोहनीय कर्म का वर्द्धक है ।'

एसोसो अबंभस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ अप्प-सुहो बहुदुक्खो महब्भयओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चती न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खोति।

'इस प्रकार अब्रह्मचर्य का फल इस लोक तथा परलोक में अल्प सुख और महान् दुख है। अब्रह्मचर्य महा भय का स्थान, कर्म-रूपी रज से गाढ़ा तरह घिरा हुआ एवं दारुण कर्कश और बिना भोगे न छूटने वाले कर्मों को बांधने वाला है।'

गीता मे अब्रह्मचर्य की निम्न प्रकार से निन्दा की है :—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महा पाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनाम्॥

अध्याय ३

'मनुष्य को पाप के रास्ते ले जाने वाले रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध ही है। ये भुखमरे या पेटू महा-पापी और शत्रु हैं। जिस प्रकार आग धुएँ से ढँकी रहती है, कांच मैल मे धुंधला दीखता है और गर्भ का बालक भिल्ली से ढँका रहता है, उसी प्रकार सारा संसार काम से ढँका हुआ है। यानी जिसमे काम न हो—जो काम से परे हो —वह संसार से भी परे है। हे अर्जुन! कभी तृप्त न होने वाली यह काम रूपी आग आत्मा की सदा की वैरिन है। ज्ञानियों के ज्ञान को भी वह ढांक देती है। इस काम के ठहरने की जगह इन्द्रिय, मन और बुद्धि है। यह इन्हीं के सहारे ज्ञान को ढांक कर मनुष्य को मोहित करता है।'

त्रिविध नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

गीता अ० १६

'काम, क्रोध और लोभ, ये तीनो नरक के द्वार और आत्मा का नाश करने वाले हैं। इसलिये इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

इस प्रकार अब्रह्मचर्य की सबने निन्दा की है। परलोक-सम्बन्धी जो हानियां इससे होती हैं, उनका वर्णन तो किया ही गया है लेकिन इस लोक मे भी इससे अनेक हानियां हैं। इससे होने वाली समस्त हानियों का वर्णन करना कठिन है।

३—अब्रह्मचर्य से हिंसा।

अब्रह्मचर्य या मैथुन से, हिंसा का महान् पाप भी होता है। भगवती सूत्र में, गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर, भगवान् ने फर्माया है कि 'जिस प्रकार रूई से भरी हुई नली में, तप्त लोहे की

सलाई डालने से रुई का नाश होता है, उसी प्रकार कामाचार सेवन करने वाला, स्त्री-योनि के जन्तुओं का नाश करता है। ये जन्तु सन्नी पंचेन्द्रिय है, और उनकी संख्या अधिक से अधिक नव लाख है। इन नव लाख जीवों के सिवा संमूर्छिम जीवों की तो गिन्ती ही नहीं है।' इस प्रकार एक बार के मैथुन से अनेक जीवों की हिंसा का पाप होता है।

स्त्री-योनि में जीव होते हैं इस बात को दूसरे लोग भी मानते हैं। वात्सायन काम-सूत्र का टीकाकार और रति-रहस्य का कर्त्ता भी स्त्री-योनि मे जीव होना स्वीकार करता है। स्त्री-योनि में जीव है, तो मैथुन से उनका नाश होना और हिंसा का पाप लगना स्वाभाविक है। इसलिए अहिंसाव्रत की रक्षा की दृष्टि से भी अब्रह्मचर्य त्याज्य है।

ब्रह्मचर्य-व्रत ।

विरमत बुधा योषित्संगात्सुखात् क्षणभंगुरात्
कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगमम् ।
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं
शरणमथवा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् ॥

भर्तृहरि

'हे बुद्धिमानो ! क्षणिक और नाशवान् स्त्री-संग के सुख को छोड़ कर मैत्री, करुणा और प्रज्ञा (ज्ञान) रूपी स्त्री का साथ करो। नरक मे, जब ताड़ना होगी, तब स्त्रियों के हार-भूषित स्तन-मण्डल और घुंघरूदार करधनी से शोभित कमर सहायता न करेगी ।'

१–ब्रह्मचर्य व्रत का अर्थ ।

अब्रह्मचर्य से निवृत्त होकर, ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा करने का नाम 'ब्रह्मचर्य-व्रत' है। इस प्रकार की प्रतिज्ञा पालन करने वाले को ब्रह्मचारी कहते है ।

२–ब्रह्मचर्य को व्रत रूप में क्यों स्वीकारना चाहिये ?

कहा जा सकता है कि 'प्रतिज्ञा-रूप व्रत स्वीकार किये बिना ही, यदि ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय, तो क्या हर्ज है ? यदि कोई हानि नहीं है, तो फिर ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा करने–यानी व्रत धारण करने की क्या आवश्यकता है ?' इसका उत्तर यह है कि सकल्प-हीन कार्यों की पूर्ति मे सन्देह ही रहता हे । संकल्प यानी व्रत या प्रतिज्ञा कर लेने पर, कार्य में होने वाली बाधाओं को सहने की शक्ति आती है, मन में दृढ़ता रहती है और 'प्रतिज्ञा भ्रष्ट न हो जाऊँ ।' इस बात का भय रहता है । इसके सिवा व्रत-रूप धारण किये विना ब्रह्मचर्य पालन से, परलोक सम्बन्धी जो लाभ होना चाहिये, वह लाभ भी नहीं होता । जैन-शास्त्रों में तो इस बात का प्रतिपादन है ही, लेकिन अन्य ग्रन्थो मे भी यही बात कही गई है । जैसे :—

संकल्पेन विना राजन् यत्किंचित् कुरुते नरः ।
फलस्याप्यल्पकं तस्य धर्मस्यार्धक्षयं भवेत् ॥

पद्मपुराण ।

'हे राजन् ! संकल्प के विना जो कुछ किया जाता है, उसका फल बहुत थोड़ा होता हे और उस कार्य के धर्म का आधा भाग नष्ट हो जाता है ।'

किसी भी शुभ कार्य को करने के लिये, संकल्प का होना अत्यावश्यक है और परलोक के लिये हितकारी नियमों के पालन का संकल्प ही व्रत कहलाता है । यद्यपि, व्रत-रूप धारण किये विना भी ब्रह्मचर्य का पालन करना बुरा नहीं है–अच्छा ही है–लेकिन ब्रह्मचर्य पालन से, पारलौकिक जो लाभ प्राप्त होना चाहिये, वह लाभ ब्रह्मचर्य को व्रत-रूप स्वीकार किये विना, पूर्णतया प्राप्त नहीं

होता। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर, ब्रह्मचर्य को, व्रत-रूप मे स्वीकार करना उचित है। ब्रह्मचर्य को व्रत-रूप स्वीकार करने से किसी प्रकार की हानि नहीं है। हाँ, लाभ अवश्य है, जो ऊपर बताये जा चुके है।

३–ब्रह्मचर्यव्रत अपरिग्रह से अलग क्यों है ?

भगवान् महावीर से पूर्व, बाईस तीर्थङ्करो के शासन-काल में ब्रह्मचर्य नाम का व्रत अलग न था। उस समय अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ये चार ही व्रत थे। चार व्रत होने पर, ब्रह्मचर्य का पालन तो होता ही था, लेकिन ब्रह्मचर्य व्रत अपरिग्रह व्रत के ही अन्तर्गत हो जाता था और परिग्रह के त्याग में स्त्री आदि का भी त्याग समझा जाता था। यद्यपि अपरिग्रह-व्रत मे ब्रह्मचर्य-व्रत का भी समावेश हो जाता है, और परिग्रह के त्याग में अब्रह्मचर्य का भी त्याग हो जाता है, परन्तु भगवान् महावीर ने, अपने समय के एवं भविष्य के वक्र जड़ मनुष्यों को दृष्टि मे रखकर, ब्रह्मचर्य-व्रत का, अलग ही उपदेश दिया। भगवान् पार्श्वनाथ तक चार ही व्रत थे, और भगवान् महावीर ने पाँच व्रतों का उपदेश दिया। इस बात को लेकर भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि- श्री केशीस्वामीजी और भगवान् महावीर के शिष्य श्री गौतम स्वामी में चर्चा भी हुई, जिसका विस्तृत वर्णन श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वे अध्ययन मे है।

४–ब्रह्मचर्य व्रत के दो भेद

शास्त्रकारों ने सुविधा की दृष्टि से, ब्रह्मचर्य-व्रत के दो भेद कर दिये हैं। एक सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत और दूसरा देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत। सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत उसे कहते हैं, जिसमें जीवन भर के लिये मैथुन से निवृत्त होने, वीर्य अक्षत रखने और सभी प्रकार के

काम भोग न भोगने की प्रतिज्ञा की जावे। इतना ही नहीं, जिन कार्यों से ब्रह्मचर्य-व्रत दूषित बने, वे सभी कार्य त्याग कर नव-वाड़ों का पालन किया जाय। इस व्रत को स्वीकार करने वाला, सर्वविरति पूर्ण ब्रह्मचारी कहलाता है। ऐसा पूर्ण ब्रह्मचारी मन, वचन और काय से वैक्रिय तथा औदारिक शरीर सम्बन्धी काम-भोगों को न भोगता है, न भोगवाता है, न भोगने वाले को अच्छा ही समझता है। सर्वविरत ब्रह्मचारी अठारह प्रकार के काम-भोगों को त्याग कर, ब्रह्मचर्य का पूर्ण-रीति से पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। सर्वविरत-ब्रह्मचर्य का अन्य ग्रन्थकारों ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य नाम दिया है।

देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत उसे कहते हैं, जिसमें स्व-स्त्री की मर्यादा रखी जाय। इस स्थान पर, सर्वविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत का ही वर्णन किया जाता है। देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का वर्णन आगे किया जायगा।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कौन कर सकते हैं, इसके लिये एक आचार्य कहते हैं:—

शक्यं ब्रह्मव्रतं घोरं, शूरैश्च न तु कातरैः।
करिपर्याणमुद्वोढुं, करिभिर्नतु रासभैः॥

ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना, शूरों के लिये ही शक्य है; कायरों के लिये नहीं; जैसे कि हाथी का पलान, हाथी ही उठा सकता है, गधा नहीं उठा सकता।

५—सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कौन कर सकता है?

सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन, संसार-त्यागी साधु ही कर सकते हैं, दूसरा नहीं कर सकता। संसार-व्यवहार में रहने वाले सभी

मनुष्य, एकदम से संसारव्यवहार नहीं छोड़ सकते; इसलिये संसार-व्यवहार में रहने वालों के लिये, देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत बतलाया गया है। इस प्रकार गृह-त्यागियो के लिये सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत है और गृहस्थियो के लिये देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत।

६–ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकारने से लाभ

इन्द्रियाँ पाप से नहीं, पुण्य से मिली हैं। पुण्य से मिली हुई इन्द्रियों को, पुण्य की ओर लगाना ही उचित है, न कि पाप की ओर। जब इन पुण्य से मिली हुई इन्द्रियों द्वारा, धर्म का लाभ लिया जा सकता है, तब इनसे पाप क्यो किया जाय ? इन्द्रियों द्वारा काम-भोग भोगना, पुण्य से प्राप्त इन्द्रियों को पाप में प्रवृत्त करना है। इंद्रियों की सार्थकता तभी है, इनके मिलने का लाभ तभी है, जब इन्हें असंयम में न लगाया जाकर, संयम में रखा जाय। इनके द्वारा दुर्विपय भोगना–इंद्रियो का दुर्विषय में लिप्त होना–उसी प्रकार नाशकारी है जिस प्रकार पतंग के लिये दीपक की लौ से मोह करना नाशकारी है। पतग, केवल आँखों के विषय-रूप पर मोहित होने से नष्ट हो जाता है तो जिनकी पाँचो इंद्रियाँ दुर्विषय-लोलुप हों, वे नष्ट क्यों न होंगे ? इद्रियो को दुर्विषयभोग में लगाने से, दुर्विषय-लोलुप बनाने से–नाश अवश्यम्भावी है। इसलिये काम-भोग के दुष्परिणामों से बचने के वास्ते सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत को स्वीकार करना और पालन करना उचित है।

मोक्ष की आराधना के लिये, चारित्र-धर्म के अन्तर्गत, भगवान् ने जिन पाँच महा-व्रतो को बताया है, उनमें से यह सर्वविरति-ब्रह्मचर्य चौथा महाव्रत है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत को स्वीकार करना और पालन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य-व्रत के बिना अन्य व्रत मोक्ष के लिये पूर्ण-रूपेण सार्थक नहीं होते, न ब्रह्मचर्य के अभाव

में अन्य व्रत, भलीभाँति आराधे ही जा सकते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत, मोक्ष के लिये कैसा उपयोगी है, यह बताते हुये एक आचार्य कहते हैं:—

एस धम्मे धुए नियए सासए जिणदेसिए ।
सिज्झा सिज्झंति चाणेणं सिज्झिस्संति तहापरे ॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र ।

यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव, नित्य अविनाशी और जिनदेव का कहा हुआ है। इसी ब्रह्मचर्य-धर्म से सिद्ध हुए हैं, होते हैं और सिद्ध होंगे।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत की प्रशंसा करते हुए, एक आचार्य कहते है :—

व्रतानां ब्रह्मचर्यं हि निर्दिष्टं गुरुकं व्रतम् ।
तज्जन्यपुण्यसम्भारसंयोगाद् गुरुरुच्यते ॥

'व्रतों में ब्रह्मचर्य ही बड़ा व्रत है; इसी व्रत के पुण्य-संयोग से गुरु कहे जाते हैं।'

गीता में कहा है :—

यदा संहरते चायं, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

जिस प्रकार कछुआ, अपने सब अंगों को सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार, विपयों की ओर से इन्द्रियों को सिकोड़ लेने वाला ही स्थिर-बुद्धि है।

महाभारत में कहा है :—

सत्ये रतानां सतत, दान्तानामूर्ध्व–रेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन्! सर्व पापान्यपासितम् ॥

'हे राजन्! सत्य से प्रेम करने वाले ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य, समस्त पापों को नष्ट करने वाला है।'

ब्रह्मचर्य की प्रशंसा में विद्वान् लोग कहते हैं:—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां, वीर्यलाभो भवत्यपि।
सुरत्वं मानवो याति, चान्ते याति परां गतिम् ॥ १ ॥
ब्रह्मचर्यं पालनीयं, देवानामपि दुर्लभम्।
वीर्ये सुरक्षिते यान्ति, सर्वलोकार्थसिद्धयः ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य का पालन करने से वीर्य का लाभ होता है, मनुष्य भी देवता के समान दिव्य हो जाता है और ब्रह्मचर्य की साधना पूरी होने पर परमगति भी मिलती है ॥ १ ॥ ब्रह्मचर्य, देवताओं के लिये भी दुर्लभ है, इसलिये इसका पालन करना उचित है, वीर्य को सुरक्षित रखने से सब लोकों का अर्थ सिद्ध हो जाता है ॥ २ ॥'

इस प्रकार सर्वविरति ब्रह्मचर्य की सब शास्त्र और ग्रन्थों ने प्रशंसा की है। यति-धर्म का पूर्णतया पालन तभी हो सकता है, जब इस सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत को स्वीकार करके पूर्ण-रीति से पाला जाय। इस ब्रह्मचर्य-व्रत के बिना अन्य व्रतों को स्वीकार करना तथा उनका पालन करना भी मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं है। अतः मोक्षेच्छुकों को अन्य व्रतों के साथ इस व्रत को स्वीकार करना और पालन करना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्यरक्षा के उपाय !

जेण सुद्धचरिएणं भवति सुबंभणो, सुसमणो, सुमाहू, स इसी, स मुणी, स संजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरति बंभचेरं।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र।

'ब्रह्मचर्य के शुद्धाचरण से ही, उत्तम ब्राह्मण, उत्तम श्रमण, और उत्तम साधु होता है। शुद्ध ब्रह्मचर्य को पालने वाला ही ऋषि, मुनि, संयमी और भिक्षु है।'

१—ब्रह्मचर्य-व्रत की रक्षा के दो प्रधान उपाय।

शास्त्रों में, ब्रह्मचर्य-व्रत की रक्षा के, प्रधानतः दो उपाय बताये गये हैं। एक क्रिया-मार्ग और दूसरा ज्ञान-मार्ग। क्रिया मार्ग ब्रह्मचर्य के विरोधी संस्कारों को रोकता है और इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा करता है। लेकिन इस मार्ग से अब्रह्मचर्य के संस्कार निर्मूल

नहीं होते। ज्ञान-मार्ग अब्रह्मचर्य के संस्कारों को निर्मूल कर देता है। फिर ब्रह्मचारी को, ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन स्वाभाविक एवं सरल और अब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन अस्वाभाविक एवं कठिन प्रतीत होता है। ज्ञान-मार्ग द्वारा प्राप्त रक्षण, स्वरूप-चिन्तन या आत्मविवेक से उत्पन्न हुआ होता है, इसलिये ऐकान्तिक और आत्यन्तिक है; कभी नष्ट नहीं होता। लेकिन क्रिया-मार्ग द्वारा प्राप्त रक्षण, ऐकान्तिक या आत्यन्तिक नहीं है। क्रिया में किंचित् भी ढिलाई होने से, अब्रह्मचर्य के सूक्ष्म संस्कारों का उग्ररूप होना सम्भव है। यद्यपि इन दोनो उपायों मे से उत्तम उपाय ज्ञान-मार्ग है, फिर भी जिस ब्रह्मचारी ने, ज्ञान-मार्ग को पूरी तरह अपना लिया है, उसको क्रिया-मार्ग की उपेक्षा करना कदापि उचित नहीं है। क्योंकि क्रिया मार्ग को त्याग देने से, व्यवहार में भी धोखा हो सकता है। ब्रह्मचारी अब्रह्मचारी की पहचान भी नहीं रहती और क्रिया-शून्य ज्ञान, पूर्णतया लाभप्रद भी नहीं है।

२—क्रिया-मार्ग से ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा।

क्रिया-मार्ग में बाह्य नियमों का समावेश है। क्रिया-मार्ग द्वारा, ब्रह्मचर्य-व्रत की रक्षा के लिये, प्रश्नव्याकरण सूत्र मे पाँच भावनाएँ बताई गई हैं, जो इस प्रकार है :—

१—केवल स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं को, स्त्रियों के सन्मुख या अन्यत्र न कहे।

२—स्त्रियो की मनोहर इन्द्रियाँ न देखे।

३—स्त्रियों के रूप को न देखे।

४—काम-भोग बढ़ाने वाली वस्तुओं को न देखे, न कहे, न स्मरण करे।

५—कामोत्तेजक पदार्थ न खावे-पीवे।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत की रक्षा के लिये भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र में दस समाधिस्थान बताये हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

१—वैक्रिय और औदारिक शरीर-धारिणी स्त्री, पशु और नपुंसक के संसर्ग वाले आसन और निवास-स्थान आदि का उपयोग नहीं करना अर्थात् संसर्ग-रहित स्थान में रहना।

२—अकेली स्त्री से बात-चीत न करना, न अकेली स्त्री को कथा-वार्ता, व्याख्यान आदि सुनाना और न स्त्री-कथा करना।

३—स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठना, और जिस आसन पर स्त्री बैठी हो, उस आसन पर स्त्री के उठने से दो घड़ी पश्चात् तक न बैठना।

४—स्त्रियों के मनोहर आँख, नाक आदि का तथा दूसरे अंगो-पांगों का अवलोकन न करना, न उनका चिन्तन ही करना।

५—स्त्रियों के रति-प्रसंग के मोहक-शब्द, रति-कलह के शब्द, गीत की ध्वनि, हँसी की किलकिलाहट, क्रीड़ा के शब्द और विरह-रुदन को पर्दे के पीछे से या दीवाल की आड़ से भी न सुनना।

६—पूर्व में अनुभव की हुई, आचरण की हुई या सुनी हुई रति-क्रीड़ा, काम-क्रीड़ा आदि का स्मरण भी न करना।

७—पौष्टिक खाद्य एवं पेय पदार्थों का उपयोग न करना।

८—सादा भोजन आदि भी प्रमाण से अधिक न खाना-पीना।

९—शृंगार-स्नान, विलेपन, धूप, माला, विभूषा और केश-रचना आदि न करना।

१०—कामोत्तेजक शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से बचना। सर्वविरति ब्रह्मचारी को, ऊपर कही हुई भावनाओं एवं समाधि-स्थानों के नियमों का पालन करना नितान्त आवश्यक है। ऐसा न करने से, सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत में अतिचार लगता है और अतिचार लगने से व्रत दूषित हो जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि आँखों के सामने आये हुए रूप को या कान में पड़े हुये शब्द को देखने-सुनने से, किस प्रकार बचा जा सकता है? क्या आँख-कान आदि को बन्द रखना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि सामने आये हुए रूप को न देखना, या कान मे पड़े हुए शब्द को न सुनना, यह वास्तव में अशक्य है; इसके लिए आँख-कान आदि बन्द रखने की जरूरत नहीं है। किन्तु ऐसे समय मे ब्रह्मचारी को, अपने में राग-द्वेष न होने देना चाहिए और वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

३—मनःसंयम

सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का, पूर्णतया पालन तभी माना जाता है जब शरीर के साथ ही मन और वचन पर भी संयम रक्खा जावे। केवल शरीर से अब्रह्मचर्य का सेवन न करना, सर्वविरति ब्रह्मचर्य नहीं है, किन्तु मन वचन और काय इन तीनों से अब्रह्मचर्य का सेवन न करना चाहिए। बल्कि, शरीर की अपेक्षा मन पर अधिक संयम रखने की आवश्यकता है। क्योंकि:—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

मन ही मनुष्य के लिये पाप-बंध या मोक्ष का कारण है।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्तौ निर्विषयं मनः।

'विषयासक्त मन पाप-बन्ध का कारण है और विशुद्ध मन मोक्ष का कारण है।'

इन्द्रियाँ दुर्विषयों में मन को साथ लेकर ही प्रवृत्त होती हैं। यदि मन, इन्द्रियों का साथ न दे, तो इन्द्रियाँ दुर्विषयों में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं। कदाचित् इन्द्रियों को दुर्विषय में प्रवृत्त न होने दे, तब भी यदि कोई मन से दुर्विषयो का चिन्तन करता है तो वह अब्रह्मचर्य का पाप उसी प्रकार बाँधता है जिस प्रकार, (शास्त्र की कथा के अनुसार) तंदुलमच्छ, प्रकट मे हिंसा न करके भी हिंसा का पाप बाँधता है। गीता मे कहा है:—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते॥

अध्याय ३ रा

'कर्मेन्द्रियों को रोक कर, मन से विषयो का चिन्तन करने वाला मूढ़ात्मा, मिथ्याचारी (पाखण्डी) कहलाता है।'

आत्मा के विनाश का कारण बताते हुए, गीता मे कहा है:—

ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

अध्याय २ रा

'विषयों का ध्यान करते रहने पर, विषयों से स्नेह हो जाता है और फिर उनके पाने की इच्छा-काम की उत्पत्ति होती है; इस काम

से ही क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अज्ञान उत्पन्न होता है, अज्ञान से स्मृति नष्ट होती है, स्मृति नष्ट होने से बुद्धि भ्रष्ट होती है और बुद्धि भ्रष्ट होने पर सत्यानाश हो जाता है।'

इस प्रकार, आत्मा के पतन का कारण, मन में विषयों का ध्यान करना-विषयों का चिन्तन करना ही ठहरता है। इसलिए ब्रह्मचारी को, मन पर संयम रखने की आवश्यकता है।

मन को किसी भी समय कार्य से खाली रखना, ब्रह्मचर्य-व्रत को जोखिम में डालना है। मन को जब भी कोई कार्य न होगा, वह तभी बुरे विचार करने लगेगा। बुरे विचार ही पाप के कारण हैं। संसार में कहावत है कि 'वश मे किये हुए भूत को जब कोई काम नहीं बताया जाता वह भूत, उस वश करने वाले के रक्त-मांस को ही खा जाता है।' ठीक इसी प्रकार, जब मन को कोई काम नहीं रहता, तब वह हृदय के सद्विचारो का-मनुष्यों के गुणो का भक्षण करने लगता है। इसलिए मन को प्रत्येक समय मे किसी न किसी सत्कार्य मे लगाये रखना उचित है।

५—भोजन-संयम।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये, अधिक भोजन करना वर्ज्य है। जीवन के लिए जितना भोजन आवश्यक है उससे किंचित् भी अधिक भोजन ब्रह्मचारी को न करना चाहिए। अधिक भोजन से इन्द्रियो में विकार उत्पन्न होता है, जो ब्रह्मचर्य का नाशक है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए थोड़ा भोजन ही अच्छा है। विद्वानों का कथन है कि 'स्वल्पाहारः सुखावहः' अर्थात् थोड़ा भोजन सुखप्रद है।

इस कथन का उल्टा यह हुआ, कि अधिक भोजन दुःखप्रद है। अधिक भोजन केवल ब्रह्मचर्य के लिए नहीं, किन्तु प्रत्येक दृष्टि से हानि-प्रद ही है। चाणक्य-नीति मे कहा है :—

अनारोग्यमनायुष्यम स्वर्ग्यं चाति भोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

अति भोजन से अस्वस्थता बढ़ती है, आयुर्बल क्षीण होता है, अनेक रोग पैदा होते हैं, पाप-कर्म में प्रवृत्ति होती है और लोगों में निन्दा होती है। इसलिए अधिक भोजन करना वर्जित है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय बताते हुए प्रश्नव्याकरण सूत्र मे कहा है :—

नो पाणभोयणस्स अइमायाए आहारइत्ता।

'ब्रह्मचारी प्रमाण से अधिक भोजन पानी न खावे पिये।'

ब्रह्मचारी को, अधिक भोजन कदापि न करना चाहिए। इसी प्रकार वह भोजन भी न करना चाहिए जो गरिष्ठ, कामोत्तेजक शक्ति-वर्द्धक और खट्टा, मीठा, चरपरा आदि स्वाद विशेष लिए हुये हो। ब्रह्मचारी हल्का, थोड़ा, नीरस और रूखा भोजन ही करता है। प्रश्न-व्याकरण सूत्र में, ब्रह्मचर्य की जो नौ गुप्तियाँ बताई गई हैं, उनमें से एक गुप्ति, सरस भोजन न करने की ही है और वह इस प्रकार है— 'नो पणीयरसभोई' अर्थात् ब्रह्मचारी रसप्रणीत भोजन न करे।

पुस्तकों के अनुसार, बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था कि 'एक बार हल्का आहार करने वाला महात्मा है, दो बार सम्हल कर यानि थोड़ा २ आहार-करने वाला बुद्धिमान और भाग्यवान है और इससे अधिक खाने वाला महा-मूर्ख, अभागा और पशु का भी पशु है।'

ब्रह्मचारी को ऐसे पदार्थों का भी सेवन नहीं करना चाहिये जो मादक हो। मादक-द्रव्यों से बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि नष्ट होने

पर समस्त दुष्कर्मों का होना सम्भव है। जैसे—चाय, गाँजा, भङ्ग, अफीम, शराब, तम्बाखू, बीड़ी सिगरेट, चुरुट आदि नशा करने वाले समस्त पदार्थों की गणना मादक-पदार्थों या मद में है। वैद्यक-ग्रन्थों में कहा है:—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

जिन पदार्थों से बुद्धि नष्ट होती है, वे सब मादक पदार्थ हैं। इसलिए ब्रह्मचारी को ऐसे पदार्थों के सेवन से भी हमेशा बचते रहना चाहिये।

६—अशृंगार

ब्रह्मचारी को शृंगार करना मना है। शृंगार मे स्नान, दन्त-धावन, तेल-फुलेल का लगाना, अच्छे कपड़े और आभूषणादि पहनना है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है कि:—

'ब्रह्मचारी, स्नान और दन्त-धावन न करे। यदि पसीना हो, तब भी मैल मिश्रित पसीने से युक्त शरीर रखे, मौन रहे, निरर्थक बात-चीत न करे, केशों का लुंचन करे, तथा और भी जो कष्ट हो, उन्हें क्षमा सहित सहन करे, आत्मा का दमन करे और अल्पवस्त्री रहे, क्षुधा तृषा सहन करे, लाघवता धारण करे, गर्मी-सर्दी सहन करे, भूमि अथवा काष्ठ शैया पर शयन करे, भिक्षा के लिये गृहस्थों के घर में प्रवेश करने पर आहार प्राप्त हो या न हो, सम्मान हो अथवा अपमान हो, निन्दा हो या प्रशंसा हो, सभी अवस्थाओं मे समभाव रक्खे, मच्छर डांस आदि द्वारा प्राप्त हुए कष्टों को सहन करे, नियम सद्गुण और विनय का आचरण करे। ऐसा करने से ब्रह्मचर्य स्थिर रहता है।

इस प्रकार ब्रह्मचारी को अन्य नियमों के साथ ही स्नान दन्त-धावन आदि शृंगार न करने का नियम भी बताया गया है। अन्य ग्रन्थकारों ने भी ब्रह्मचारी के लिये ऐसे ही नियम बताये हैं। जैसे:—

मलस्नानं सुगन्धाद्यैः स्नानं दन्तविशोधनम् ।
न कुर्याद् ब्रह्मचारी च तपस्वी विधवा तथा ॥

—विद्यासंहिता शिवपुराण

मल से शुद्धि पाने के लिये, या सुगन्धित द्रव्य का सेवन करके स्नान करना दातून-मंजन आदि करना, ब्रह्मचारी तपस्वी और विधवा को उचित नहीं है।

सुखशय्या नवं वस्त्रं, ताम्बूलं स्नानमंडनम् ।
दन्तकाष्ठं सुगन्धं च, ब्रह्मचर्यस्य दूषणम् ॥ १ ॥

—महाभारत शान्ति पर्व

'कोमल सुख शय्या, नवीन चमकीले-भड़कीले वस्त्र, ताम्बूल, स्नान, सुश्रूषा, दांतुन, और सुगन्ध का सेवन ये सब ब्रह्मचर्य के लिये दूषण है। इनके सेवन से ब्रह्मचर्य दूषित हो जाता है।'

वर्ज्जयेन्ममांसगन्धमाल्यदिवास्वप्नांजनाभ्यंजनयानोपा-नच्छत्रकामक्रोधलोभमोहवाद्यवादनस्नानदन्तधावनहर्षनृत्य--गीतपरिवादभयानि ।

—गौतम स्मृति।

ब्रह्मचारी, मधु, मांस, गन्ध, फूलमाला, दिन में शयन, अंजन उबटन, सवारी, जूता, छाता, काम, क्रोध, लोभ, मोह, बाजा बजाना, स्नान, दातुन, प्रसन्नता, नाच, गाना; निन्दा और भय को त्याग दे।

यही बात मनुस्मृति मे भी कही गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में ब्रह्मचारी के लिए विशेष रूप से कहा गया है कि:—

विभूसं परिवज्जिजा सरीरपरिमण्डनं।
बंभचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय १६ वां

ब्रह्मचर्य मे रत साधु, शरीरमण्डन अर्थात् शरीर, नख, केश आदि का संस्कार करना और शृंगार-वस्त्रादि से शरीर को शोभित करना सर्वथा त्याग दे।

७—निवास

ब्रह्मचारी ऐसे स्थान का सेवन कदापि न करे जहाँ स्त्रियो का निवास या आगमन हो। प्रश्नव्याकरण सूत्र में ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियो में से एक गुप्ति इसी विषय में है, जो इस प्रकार है:—

नो इत्थीपसुपंडगसंसत्ताणि सिज्जासणाणि सेवित्ता भवइ।

जिस स्थान पर स्त्री, पशु, या नपुंसक रहते हों, उस स्थान पर, ब्रह्मचारी निवास न करे।

स्त्री के साथ एकान्त में निवास करना भी ब्रह्मचर्य के लिये घातक है। एकान्त मे रहने से, कुभावनाओं के जन्म और ब्रह्मचर्य के खण्डित होने का भय रहता है। चाहे कोई कितना ही दृढ़-प्रतिज्ञ क्यों न हो, एकान्तवास ब्रह्मचर्य का घातक ही है।

८—अध्ययन

ब्रह्मचारी को, ऐसी पुस्तके भी कदापि न पढ़नी चाहिए, जिनसे काम-विकार की जागृति हो; मन या इन्द्रियाँ दुर्विषयों की ओर

दौड़े अथवा उनकी इच्छा करें। इस प्रकार का अध्ययन भी ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा से भ्रष्ट कर देता है। ब्रह्मचारी के लिए विशेषतः धर्म-ग्रन्थों का, ब्रह्मचारियों की कथाओं का और संसार की ओर से वैराग्य उत्पन्न करने वाली, संसार की नश्वरता बतलाने वाली तथा ससार एवं दुर्विषयों से घृणा उत्पन्न करने वाली पुस्तकों का अध्ययन ही लाभ-प्रद है। ऐसे अध्ययन से ब्रह्मचर्य की रक्षा में बहुत सहायता मिलती है।

९—संग

ब्रह्मचारी, कामी या व्यभिचारी का संग कदापि न करे। ऐसे लोगो की संगति से, कभी न कभी ब्रह्मचर्य का नष्ट होना सम्भव है। संगति का प्रभाव पड़ता ही है। विद्वानों का कथन है:—

कामिनां कामिनीनाञ्च संगात्कामी भवेत्पुमान्।

कामी पुरुष और भोगवती-स्त्री के साथ रहने वाला पुरुष कामी बन जाता है।

इसलिये ब्रह्मचारी को ऐसी संगति से सदैव बचते रहना चाहिये; जिससे कामोत्पत्ति और ब्रह्मचर्य नष्ट होने का भय रहता है।

१०—स्त्रीपरिचय

ब्रह्मचारी को, स्त्रियों का परिचय न बढाने देना चाहिये, न अपने पास अधिक समय तक बैठा कर वार्तालाप ही करना चाहिये। प्रश्नव्याकरण सूत्र में, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्ति बताते हुये कहा है:—

नो इत्थीणं सेवित्ता भवइ, नो इत्थीणं इन्दियाणि मणोहराइं रम्माइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ।

'ब्रह्मचारी स्त्रीसेवन न करे, स्त्रियो के मनोहर और रमणीय अंगो का अवलोकन न करे, न प्रशंसा ही करे।

स्त्रियो के देखने से भी, ब्रह्मचारी के लिए बड़े-बड़े अनर्थ सम्भव हैं। शास्त्र मे यह बात नहीं मिलती कि मणिरथ पहले से ही दुराचारी था। मदनरेखा पर भी उसकी कुदृष्टि उसको देखने से पूर्व न थी, किन्तु उसने जब से मयणरेहा को देखा, तभी से उसकी कुदृष्टि हुई। उस देखने मात्र से होने वाली कुदृष्टि का परिणाम यह हुआ कि उसने मदनरेखा के लिये अपने छोटे भाई को जिसको उसने आग्रह-पूर्वक युवराज बनाया था—मार डाला और अन्त में स्वयं को भी मरना पड़ा। इसलिये ब्रह्मचारी को न तो स्त्रियों को देखना ही चाहिए और न उनसे परिचय ही बढ़ाना चाहिए।

अन्य ग्रन्थकारो ने भी ब्रह्मचारी को, स्त्रियो के साथ परिचय बढ़ाने से रोका है। जैसे:—

> अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
> प्रमादाह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधःवशानुगम् ॥१॥
> मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
> बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २ ॥
>
> मनुस्मृति अ० २

'मैं विद्वान् या जितेन्द्रिय हूँ, ऐसा समझकर, स्त्रियों के समीप न बैठना चाहिये; क्योंकि चाहे विद्वान् हो या मूर्ख, देह धर्म से, काम-क्रोध के वशीभूत शरीर को स्त्रियाँ कुमार्ग पर ले जाने मे समर्थ हैं। इसलिए चाहे माता हो, बहन हो या पुत्री हो, इनके साथ भी एकान्त स्थान मे न बैठें; क्योंकि इंद्रियों का बलवान् समूह नीति

रीति से चलने वाले पुरुष को भी अपने पथ से विचलित कर देता है।'

ब्रह्मचारी को स्त्रियों से परिचय न करने का उपदेश देते हुए शास्त्र में कहा है:—

हत्थपायपलिच्छिन्नं कन्ननासविगप्पिअं।
अवि वाससयं नारिं बभयारी विवज्जए॥

—दशवैकालिक सूत्र अ० ८ वां

'जिसके हाथ-पांव टूटे हों, नाक-कान भी कटे हुए हों और जो अवस्था मे भी सौ वर्ष की हो, ऐसी स्त्री के साथ भी ब्रह्मचारी परिचय न करे, न उसके साथ एकान्त में रहे।'

ऐसी स्त्री भी, पुरुष के हृदय को और ऐसा पुरुष भी स्त्री के हृदय को, विचलित करने मे समर्थ हो सकता है; अच्छी स्त्री और अच्छे पुरुष की तो बात ही दूसरी है। ब्रह्मचारी को स्त्रियों के परिचय से बचना ही श्रेयस्कर है। पूज्य श्री उदयसागरजी महाराज भी कहा करते थे।

गढ़ के पासे डुँगरी, कदियक गढ़ को भंग।
साधू पासे स्त्री, यो ही बड़ो कुसंग॥
यो ही बड़ो कुसंग भंग तो शील में होसी।
बैठ नारि के पास मूल की पूंजी खोसी॥
शीलादिक आचार के पालन से मन भागा।
नाथ कहे रे बालकां ये जोग को रोग लागा॥

११—मातृ पुत्री और भगिनी भाव

सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत के आराधक को, स्त्रियों के प्रति मातृ, पुत्री और भगिनी भाव रखना, बहुत ही हितकारी है। धर्म से किंचित् भी प्रेम करने वाले के हृदय में, माँ, बहन और लड़की के लिए कोई विकार-भावना नहीं होती। हाँ, जिन्होंने मनुष्यता को ही तिलांजलि दे दी है; जिनमें से मनुष्यत्व ही निकल गया है, उनकी तो बात ही अलग है। ऐसे लोग माँ, बेटी और बहिन तो क्या, पशुओं से भी दुष्कर्म करने से नहीं चूकते।

मातृ, पुत्री और भगिनी भाव, ब्रह्मचर्य की रक्षा का एक सर्वोत्कृष्ट साधन है। जो स्त्रियाँ आयु में बड़ी हैं, उनके प्रति मातृ-भाव, जो समान हैं उनके प्रति भगिनी-भाव; और जो छोटी हैं, उनके प्रति पुत्री-भाव रखने से, हृदय में विकार उत्पन्न नहीं होता। मातृ-पुत्री और भगिनी भाव का क्या माहात्म्य है, इसके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक लखारा अपनी गधी पर, चूड़ियाँ लादे हुए चला जा रहा था। गधी धीरे चलती थी, इसलिये लखारा उसे हाँकते हुए कहता जाता था,–'माँ चल!' 'बहन चल!' 'बेटी चल!' लखारे के इस कथन को सुन कर, मार्ग चलनेवाले लोग उससे कहने लगे कि—तू कैसा मूर्ख है! गधी को भी माँ, बहन और बेटी कोई कहता है? कहीं गधी भी माँ, बहन या बेटी हो सकती है? लोगों की बात सुन-कर, लखारा कहने लगा–भाई, यद्यपि गधी होने के कारण यह मेरी माँ, बहन या बेटी नहीं हो सकती, लेकिन स्त्रीजाति के प्रति माँ, बहन और बेटी की भावना को जन्म देने वाली तो हो सकती है न? यदि मैं इस गधी को मातृ, पुत्री और भगिनी भाव से न देखूँगा, तो स्त्रियो के प्रति ऐसी भावना कब रख सकूँगा? मैं लखारा हूँ। स्त्रियो

को चूड़ियाँ पहनाना मेरा काम है, इसलिये बड़े-बड़े घरो में मेरा प्रवेश है। नित्य ही, सुन्दर-सुन्दर स्त्रियो के कोमल-कोमल हाथ, चूड़ियाँ पहनाने के लिये, मेरे हाथों में आया करते हैं। यदि मैं उनके प्रति मातृ पुत्री और भगिनी भाव न रखूँ—किसी प्रकार की कुभावना रखूँ—तो मैं लोगो में से अपना विश्वास भी खो दूं तथा व्यवसाय से भी हाथ धो बैठूँ। मैं इस गधी को भी, बहन, माँ और बेटी के समान मानता हूँ, तभी अन्य स्त्रियो को भी, बहन, माँ और बेटी के समान मान सकता हूँ। लखारे की बात सुनकर सबको चुप हो जाना पड़ा।

तात्पर्य यह है कि सब स्त्रियों के प्रति मातृ, भगिनी और पुत्री भाव रखने से, स्त्रियो के प्रति कुभावनाएँ उत्पन्न ही नहीं होती। इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा होती है।

१२—उपवास

वीर्य एक ऐसी वस्तु है, जिसे, बिना उपाय के शरीर मे रोक रखना—पचा जाना—बहुत कठिन कार्य है। ऐसा करने के लिये उपायों की आवश्यकता है। इस प्रकार के उपायो मे से एक उपाय, उपवास या तपस्या भी है। जैनशास्त्रों में तप का प्रतिपादन इसलिये भी विशेष रूप से किया गया है कि उससे ब्रह्मचर्यव्रत सुरक्षित रहता है और ब्रह्मचर्य के बाधक दोष नष्ट हो जाते हैं। श्रीउत्तराध्ययन सूत्र मे आहार-त्याग करने के छः कारणो मे से एक कारण यह बतलाया है कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये आहार छोड़ दे। इस बात का समर्थन, अन्य ग्रन्थकार भी करते हैं। जैसे—

आहारान् पचति शिखी दोषान् आहारवर्जितः।

—आयुर्वेद।

आहार को अग्नि पचाती है और दोषो को उपवास पचाते हैं।"

१३–ध्यान ।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये, ध्यान की भी आवश्यकता है। ध्यान ब्रह्मचर्य की रक्षा का प्रधान साधन है। ब्रह्मचर्य का वर्णन करते हुए, प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—

झाणवरकवाडसुकयमज्झप्पदिण्णफलिहं ।

ध्यान, ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करने वाला कपाट है।

मनुस्मृति में कहा है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा प्राणस्य निग्रहात् ॥

जिस प्रकार अग्नि में डालकर तपाने से धातुओं का मल भस्म हो जाता है, उसी प्रकार, प्राणायाम करने से इन्द्रियों के सब दोष भस्म हो जाते हैं।

१४–नियमितता ।

ब्रह्मचारी का जीवन, अनियमित नहीं होना चाहिए। अनियमित जीवन, प्रत्येक दृष्टि से हानिप्रद है। उसके प्रत्येक कार्य, नियमित रूप से ठीक समय पर हों। कोई समय, व्यर्थ या खाली न जावे, न कोई कार्य, असमय पर ही हो। अनियमितता से बचे रहने पर ही ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य स्थिर रहता है।

१५–ईश्वर-प्रार्थना ।

ब्रह्मचारी के लिये सबसे बड़ा नियम ईश्वर-प्रार्थना है। नियमित रूप से प्रातः सायं ईश्वर की प्रार्थना, ब्रह्मचर्य की रक्षा का एक

अच्छा साधन है। ईश्वर-प्रार्थनादि नियमो का पालन करने से, ब्रह्मचर्य के साथ ही दूसरे कार्यों की सफलता मे भी सहायता मिलती है।

इन नियमों के सिवा और भी बहुत से छोटे-छोटे नियम ऐसे हैं जिनका पालन करने पर ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है और पालन न करने पर ब्रह्मचर्य दूषित हो जाता है। जैसे कि ब्रह्मचारी को ओढना-बिछौना नरम न रखना, कड़ा रखना, मुलायम या चटक-मटक वाले वस्त्र न पहनना, स्त्रियो के चित्र न देखना और न रखना आदि। इस प्रकार के समस्त नियमो का पालन करने वाला ही अपने व्रत को निर्दोष-रूप मे पाल सकता है।

७

स्त्रियाँ और ब्रह्मचर्य।

किन्नाप्नोति रमारूपा ब्रह्मचर्यतपस्विनी।

उस लक्ष्मी-रूपी स्त्री के लिए कुछ भी कठिन नहीं है, जो ब्रह्मचर्य-तप की तपस्विनी है।'

कुछ लोगों का कथन है कि स्त्रियों को पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं पालना चाहिए; लेकिन जैन-शास्त्र इस कथन का समर्थक नहीं, अपितु विरोधी है। जैन-शास्त्रों में ब्रह्मचर्य का जैसा उपदेश पुरुषों के लिये है, वैसा ही उपदेश स्त्रियों के लिये भी है। जैन-शास्त्रों का यह उपदेश आदर्श रहित नहीं किन्तु आदर्श सहित है। भगवान् ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी नाम्नी कन्याओं ने कर्म-भूमि के प्रारम्भिक युग मे ही, पूर्ण ब्रह्मचारिणी रहकर, स्त्रियों के लिये ब्रह्मचर्य पालन करने का आदर्श रख दिया था। उन्नीसवें तीर्थङ्कर भगवान् मल्लिनाथ स्त्री ही थे। स्त्री होते हुए भी उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया था और तीर्थङ्कर पद प्राप्त किया था। इसी प्रकार राजिमती,

चन्दनबाला आदि सतियो ने भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया है। सारांश यह कि 'स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य न पालें, ब्रह्मचारिणी न हों' यह बात, जैन-शास्त्रों से विरुद्ध है। जैन-शास्त्र इस विषय मे स्त्री और पुरुष दोनों को समान अधिकारी बताते हैं। आयु, देश काल आदि किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाते। वे कहते हैं कि चाहे स्त्री हो या पुरुष, ब्रह्मचर्य का पालन जो भी करे, इससे होने वाले लाभ को वही प्राप्त कर सकता है।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य का पालन भी अधिक सुचारु-रूप से कर सकती हैं। जैन-शास्त्रों में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनमे स्त्रियों ने ब्रह्मचर्य से पतित होते हुए पुरुषों को ब्रह्मचर्य पर स्थिर किया। जैसे कि—सती राजमती ने रथनेमि को और कोशा नाम्नी श्राविका ने, स्थूलभद्रजी के एक गुरु-भाई को ब्रह्मचर्य से पतित होने से बचाया था।

तात्पर्य यह कि ब्रह्मचर्य पुरुषों ही के लिये नहीं है किन्तु स्त्रियो के लिये भी वैसा ही आवश्यक है। स्त्रियाँ भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकती हैं।

सर्वविरति ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना के लिये, स्त्रियों को भी उन नियमों का पालन करना आवश्यक है, जो पुरुषों के लिए पिछले प्रकरण मे बताये गये हैं। हाँ, यह अन्तर अवश्य होगा कि जहाँ ब्रह्मचारी के लिये स्त्रियो का साथ और उनकी प्रशंसा आदि वर्ज्य है, वहाँ ब्रह्मचारिणी को पुरुषों का साथ, उनकी कथा आदि सर्व वर्ज्य समझना चाहिए और जहाँ ब्रह्मचारी को स्त्रियो से बचने का नियम बताया गया है, वहाँ ब्रह्मचारिणी को पुरुषों से भी बचने का नियम समझना चाहिए। शेष सब नियम स्त्रियों के लिए भी वैसे ही हैं जैसे पुरुषों के लिए हैं और जो बताये जा चुके हैं।

विवाह ।

तृषा शुष्यत्यास्यं पिबति सलिलं स्वादु सुरभि,
क्षुधार्त्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादि वलितान् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूम्
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

—वैराग्यशतक

'जब मनुष्य का कण्ठ प्यास से सूखने लगता है तब वह शीतल, सुगन्धित और निर्मल जल पीकर, तृषा के दुःख से मुक्त होता है। जब भूख सताती है तब शाकादि के साथ भोजन करके क्षुधा का कष्ट मिटाता है। जब कामाग्नि प्रचण्ड होती है, तब सुन्दर-स्त्री को हृदय से लगाता है। इस प्रकार जल भोजन और स्त्री एक एक रोग की दवा है लेकिन लोगों ने उलटा ही मान रखा है। अर्थात् लोग इन दवाओं में भी सुख मानते हैं।'

१—मनुष्य जन्म उत्तम क्यों है ?

मनुष्य-शरीर, सब शरीरों से उत्तम क्यों माना जाता है इस विषय मे कहा है:—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणां ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समाना ॥

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन की दृष्टि से तो मनुष्य और पशु समान ही हैं, लेकिन मनुष्य में धर्म है, इसी से वह पशु की अपेक्षा बड़ा है। धर्महीन मनुष्य पशु के समान है।'

मनुष्य में धर्म है, इसलिए वह सब प्राणियों में उत्तम माना जाता है। लेकिन आहारादि में ही धर्म नहीं है। यदि आहारादि में ही धर्म होता है तो उक्त श्लोक में धर्म को आहारादि से भिन्न न बताया जाता। इस श्लोक में धर्म को आहारादि से भिन्न बतलाया गया है; इसलिये यह देखना है कि धर्म क्या है, जिसके होने पर मनुष्य सब प्राणियों में उत्तम माना जाता है।

इस लोक और परलोक में जिसके द्वारा उन्नति हो, उसी का नाम धर्म है। भगवान् महावीर ने धर्म के सूत्र-धर्म और चारित्र-धर्म ये दो भेद बताये हैं। इनका विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है। यहाँ तो केवल यह बताना है कि भगवान् ने चारित्र-धर्म की आराधना के लिये जो पाँच व्रत बताये हैं उनमें से चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना धर्म है। इसका पालन करने पर ही मनुष्य सब प्राणियों में उत्तम हो सकता है। भोग भोगने या अब्रह्मचर्य का सेवन करने के कारण मनुष्य सब प्राणियो में उत्तम नहीं कहला सकता।

आत्मा जब निगोद में पड़ा था, तब इसे यह भी मालूम नहीं था कि मैं जीव हूँ। पुण्य के बढ़ने से यही आत्मा निगोद से निकल कर अनेक योनियों को भोगता हुआ, अनेक प्रकार के कष्ट सहता हुआ इस मनुष्य-जन्म को प्राप्त कर सका है। आत्मा ने पूर्व भोगी हुई अनेक योनियों में दुर्विषय भोग को ही इष्ट मान रखा था, इसलिए इसने उन्हें खूब भोगा, लेकिन न तो इसे उन भोगों की ओर से तृप्ति ही हुई, न बार-बार के जन्म-मरण से मुक्ति ही हुई। उस समय तो इसको ऐसा ज्ञान न था—इसकी बुद्धि विकसित न थी; यह धर्म को जानता ही न था। लेकिन यदि मनुष्य-जन्म पाकर भी, यह पशु-योनि में भोगे जाने वाले भोगों को ही भोगे, उन्हीं मे सुख माने, जन्म-मरण से मुक्त होने का उपाय न करे तो इसकी अधिक भूल-अज्ञानता या मूर्खता और क्या होगी ? जो भोग पशु-शरीर में भी भोगे जा सकते हैं, उनके भोगने में इस मनुष्य-शरीर को नष्ट करना कौनसी बुद्धिमानी है ? केवल चार आने में आ सकने वाली मिठाई के बदले में, चिन्तामणि ऐसा रत्न दे देने की मूर्खता के समान क्षणिक, अस्थायी और हर प्रकार से हानि करने वाले दुर्विषय-भोग मे, उत्कृष्ट मनुष्य-जन्म खो देने की मूर्खता से अधिक मूर्खता और क्या होगी ? मनुष्य-शरीर दुर्विषय-भोग के लिये नहीं है; किन्तु उन्हें त्यागने के लिये है। मनुष्य-जन्म प्राप्त होने का वास्तविक लाभ तभी है, जब दुर्विषय भोग त्याग कर ब्रह्मचर्य-रूपी तप का अनुष्ठान किया जाय। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश देते हुये कहा था:—

'हे पुत्रो ! देवधारियों का यह शरीर दुःखदायी-विषय-भोग के योग्य नहीं है, क्योंकि दुखदायी विषय-भोग तो, विष्टा खाने वाले नारकीय जीवों को भी मिल जाता है, अतएव, मैं कहता हूँ कि यह

शरीर दिव्य तप करने योग्य है, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अनन्त ब्रह्मसुख प्राप्त होता है ।'

१—आवश्यक ब्रह्मचर्य ।

यद्यपि, मनुष्य-जन्म की सफलता और पूर्णतया-धर्माचरण, तो सर्वविरति ब्रह्मचर्य के पालन में ही है, लेकिन, सर्वविरति ब्रह्मचर्य, जिसे चतुर्थ महाव्रत कहा गया है, वह तो गृह-ससार का त्यागी ही स्वीकार कर सकता है । गृह-संसार में रहते हुए, ऐसा न कर सकने वाले पुरुप स्त्री को, कम से कम क्रमशः २५ और १६ वर्ष की अवस्था तक तो, अखण्ड ब्रह्मचर्य पालना ही चाहिये । इस अवस्था तक अखण्ड ब्रह्मचर्य न पालना अपने आपको अवनति, रोग, एवं मृत्यु के मुख मे धकेलना है । स्मृतिकार कहते है—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽधं गुरोःकुले ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥

—मनुस्मृति ।

'पूर्णायु का चौथा भाग यानि १०० वर्ष में से २५ वर्ष गुरुकुल मे रहकर, अविप्लुत रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करे और फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ।'

इस प्रकार, कम से कम २५ और १६ वर्ष की अवस्था तक तो, प्रत्येक स्त्री-पुरुप को अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिए ।

२—विवाह कौन करते है ?

२५ और १६ वर्ष की अवस्था होने पर ही, पुरुप और स्त्री इस बात के निर्णय पर पहुँचते हैं कि हम आयु भर ब्रह्मचर्य पाल सकते

हैं या नहीं ? अर्थात्, पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने की शक्ति, हममें है या नहीं ? जो लोग ऐसा करने में समर्थ होते हैं, वे तो पूर्ण ब्रह्मचर्य की ही अराधना करते हैं—विवाह के झंझटो में नहीं फँसते, जैसे भीष्म पितामह। लेकिन जो लोग संसार मे रहते हुए पूर्ण ब्रह्मचर्य पालने में अपने आप को असमर्थ देखते हैं, वे विवाह कर लेते हैं, किन्तु दुराचार में प्रवृत्त नहीं होते। यद्यपि जैन-शास्त्रों में तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का ही विधान पाया जाता है, विवाह विषयक विधान नहीं पाया जाता, लेकिन, नीतिकारों ने, पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत पालने मे असमर्थ लोगों के लिए विवाह का विधान और विवाह न करके दुराचार में प्रवृत्त होने का अत्यन्त निषेध किया है। अर्थात् यह कहा गया है कि यदि विवाह नहीं करना है, तो ब्रह्मचर्य पाले, लेकिन दुराचार में प्रवृत्त न हो। जैन शास्त्रों में भी ऐसा विधान कहीं नहीं मिलता, कि जो लोग सर्वविरति ब्रह्मचर्य पालने में असमर्थ है, उन्हें, विवाह न करने देकर दुराचार में प्रवृत्त होने दिया जाय। हाँ, जैन शास्त्रों में दुराचार-प्रवृत्ति का निषेध अवश्य है। वे (विवाह न करके—या विवाह करके) पर-स्त्री-गमन करने वाले को तो दुराचारी कहते हैं, लेकिन विवाह करने वाले को दुराचारी नहीं कहते।

जो लोग, नैष्ठिक (यावज्जीवन) ब्रह्मचर्य का पालन करने में समर्थ हैं, दुर्विषयों में, इन्द्रिय और मन को प्रवृत्त न होने देने की शक्ति रखते हैं, उनके लिए तो, विवाह न करना ही श्रेयस्कर है। लेकिन जो ऐसा करने में असमर्थ हैं और जिन्हे विवाह न करने पर दुराचार में प्रवृत्ति होने का भय है, नीतिज्ञो के समीप, ऐसे लोगो का विवाह करना, दुराचार मे प्रवृत्त होने की अपेक्षा बुरा नहीं, किन्तु अच्छा माना जाता है। हाँ, विवाह को माना जाय दवा के रूप मे। पाश्चात्य विद्वान् सन्त फ्रान्सिस कहता है कि 'कामवासना की दवा के रूप में विवाह बड़ी अच्छी वस्तु है, लेकिन वह कड़ी है; इसलिये

यदि उसका व्यवहार बहुत सम्भाल कर न किया जावे तो खतरनाक भी है।' इस प्रकरण के प्रारम्भ में जो श्लोक दिया गया है, उसमे भर्तृहरि ने भी यही बात कही है। इस प्रकार विवाह, कामवासना रूपी रोग की दवा के सिवा और किसी सुख का साधन नहीं माना जा सकता और दवा लेने की आवश्यकता उन्हीं लोगों को होती है जो रोग को और किसी उपाय से नहीं मिटा सकते। अर्थात् विवाह केवल वही लोग करते है जो कामवासना का विवेक द्वारा दमन करने मे असमर्थ हैं।

४—विवाह सब के लिये आवश्यक नहीं है।

कामवासना-रूपी रोग को विवेक-रूपी औषधि से दबाया जा सकता है। जिनमें इस औषधि के सद्भाव का अभाव या इसकी कमी है, अथवा पूर्ण विवेकी होते हुये भी पुण्य फलों की निर्जरा करना जिनके लिये आवश्यक है और जो निकाचित बन्ध में पड़े हुये हैं; वे ही विवाह करते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है, कि 'कामवासना इतनी प्रबल नहीं होती कि जिसका विवेक या नैतिक बल से पूर्णतया दमन न किया जा सके। विषयेच्छा भी नींद और भूख के समान ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो।' तात्पर्य यह कि कामवासना का दमन विवेक द्वारा सद्ज्ञान एवं भावना के बल से किया जा सकता है, इसलिये प्रत्येक के लिये विवाह करना आवश्यक नहीं है।

कदाचित् कहा जाय कि 'प्रजोत्पत्ति की दृष्टि से विवाह करना आवश्यक है। यदि सब लोग विवाह न करके ब्रह्मचारी होने लगें तो फिर संसार का ही अन्त हो जावेगा!' ऐसे लोगों को यह उत्तर दिया जाता है कि इस प्रकार की शंका निर्मूल है। अनादि होने के कारण संसार का अन्त नहीं हो सकता, न सभी लोग ब्रह्मचर्य का पालन ही

कर सकते हैं। कभी थोड़ी देर के लिये ऐसा मान भी लिया जाय तब भी प्रजोत्पत्ति और संसार की तुम्हें इतनी चिन्ता क्यों ? यदि ब्रह्मचर्य का पालन करने से संसार शून्य भी हो जावे तो इसमें किसी की क्या हानि है ? यदि प्रजोत्पत्ति न भी हुई या संसार का अन्त भी हो गया तब भी हर्ज क्या होगा ? तुम्हें तो केवल यह देखना चाहिये कि हमारा उद्धार, विवाह करने-प्रजा या मनुष्य-संसार बढ़ने से होता है, या ब्रह्मचर्य पालन करने से ? इस विषय में गांधीजी लिखते है— 'आदर्श ब्रह्मचारी को, कामेच्छा या सन्तानेच्छा से कभी जूझना नहीं पड़ता; ऐसी इच्छा उसे होती ही नहीं।' महाभारत के अनुसार भीष्मपितामह ने भी यही कहा था कि 'ब्रह्मचारी को संसार या संतान की इच्छा नहीं होती, न इनकी उत्पत्ति या वृद्धि के लिए वह अपने ब्रह्मचर्य को ही नष्ट कर सकता है। इस प्रकार सब लोगो के लिये विवाह करना आवश्यक नहीं है, किन्तु जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ हैं अथवा जिन्हें पुण्य-फल की निर्जरा करनी है, वे ही लोग विवाह करते हैं।

५—ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर अविवाहित रहने से हानि

आजकल, पाश्चात्य देशों के बहुत से स्त्री पुरुषों में ऐसे विचार फैल रहे हैं कि विवाह करके स्वतन्त्रता खोने, किसी एक के होकर रहने और बालक-बालिका आदि के पालन-पोषण तथा स्त्री आदि के स्थायी व्यय में पड़ने की अपेक्षा यही अच्छा है कि थोड़ी देर के लिये किसी स्त्री या पुरुष से सम्बन्ध कर लिया जाय और काम-वासना पूरी करके उसे त्याग दिया जाय। ऐसे लोग सोचते हैं कि 'विषय-भोग चाहे स्व-स्त्री तथा स्व-पति से किया जावे, या पर-स्त्री तथा पर-पुरुष से किया जाय, रज-वीर्य नष्ट होने की दृष्टि से तो दोनो समान ही हैं। बल्कि विवाहित-जीवन मे इस दृष्टि से और

अधिक हानि है। क्योंकि स्व-स्त्री या स्व-पति के साथ तो थोडी इच्छा होने पर भी दुर्विषय भोग करते हैं, लेकिन पर-स्त्री या पर-पुरुष के साथ तो दुर्विपय तभी भोगेंगे जब कामेच्छा बहुत प्रबल हो जाएगी और रोकने से न रुक सकेगी।'

इस प्रकार की युक्तियों द्वारा, पाश्चात्य देशों के बहुत से लोग विवाहित-जीवन की जिम्मेदारियों से बचने के लिए और स्वच्छन्द रहने के लिये ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर भी अविवाहित रहना अच्छा समझते हैं। भारत के कुछ लोग भी ऐसे ही विचारों के समर्थक हैं और पाश्चात्य लोगो की युक्तियों के साथ ही, यह दलील और पेश करते हैं कि स्व-स्त्री तथा स्व-पति के साथ मैथुन करने में भी पाप होता है और पर-स्त्री तथा पर-पति के साथ मैथुन करने में भी पाप होता है। फिर विवाह क्यों किया जाय? बल्कि विवाह करने से अधिक पाप होता है। क्योंकि विवाह-समय में भी आरम्भ-समारम्भ होता है तथा विवाह के पश्चात् भी स्त्री को भोजन, वस्त्र आदि देने मे और सन्तान के पालन-पोषण, विवाह आदि में आरम्भ-समारम्भ होता है। इस तरह आरम्भ-समारम्भ का पाप, परम्परा पर ही बढ़ता जाता है। इसलिये पर-स्त्री से मैथुन करने की अपेक्षा विवाह करने में अधिक पाप है।' इत्यादि कुतर्क पैदा करते हैं।

इस प्रकार के विचार वाले लोग, ब्रह्मचर्य के महत्त्व से तो अनभिज्ञ हैं ही; लेकिन विवाह के महत्त्व को भी नहीं समझ पाये हैं। वे समझते हैं कि विवाह केवल दुर्विपय-भोग के लिए ही है, इससे अधिक विवाह का कोई मूल्य ही नहीं है। अपनी इस समझ पर वे दूरदर्शिता से विचार नहीं करते। थोड़ी देर के लिए, विवाह केवल विषय-भोग के लिये ही मान लिया जाय, तब भी यदि विवाह-प्रथा न होती, तो संसार में अशान्ति का साम्राज्य छा जाता। मनुष्य

स्वभावत: अपने ऐसे प्रेमी के प्रेम मे किसी दूसरे का साझी होना नहीं सह सकता; इसलिए एक ही पुरुष को चाहने वाली अनेक स्त्रियाँ, या एक ही स्त्री को चाहने वाले अनेक पुरुष, आपस में लड-लड कर मर जाते हैं। आज भी सुना जाता है कि एक वेश्या के पीछे अनेक नर-हत्याएं होती है। यदि वही वेश्या किसी एक की होती तो सम्भवत: ऐसी हिंसा का समय न आता। इसी प्रकार विवाह-प्रथा न होने पर, मनुष्य उस दाम्पत्य-प्रेम से सर्वथा वंचित रह जाता, जो विवाहित पति-पत्नी में हुआ करता है। विवाह की प्रथा का स्थान यदि नैमित्तिक सम्बन्ध को ही प्राप्त होता, तो स्त्री-पुरुष एक दूसरे से उतने ही समय तक प्रेम करते, एक-दूसरे की उतने ही समय तक पर्वाह करते, जब तक कि विषय-भोग नहीं भोगा जा चुका है या जब तक वह विषय-भोग भोगने के लिये लालायित है। विषय-भोग भोग चुकने पर या इस योग्य न रहने पर, स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की उसी प्रकार उपेक्षा करते, जिस प्रकार वेश्या की उसका जार-पति और जार-पति की वेश्या उपेक्षा करती है। विवाह प्रथा न होने पर और मनुष्य के स्वच्छन्द हो जाने पर सहानुभूति, दया और प्रेम का भी सद्भाव न रहता। स्त्री-पुरुष अपने आप को उस समय तक तो सुखी मानते रहते हैं, जब तक कि उनमे विषय-भोग भोगने की शक्ति है। लेकिन इस शक्ति के न रहने पर जीवन दुःखमय, सहारा-हीन एवं पश्चात्ताप-पूर्ण होता है। क्योंकि संसार मे जनन-क्रिया (सन्तान प्रसव) को प्रेम, दया, सहानुभूति, अहिंसा आदि के प्रसार का ही बहुत श्रेय है। विवाह-प्रथा न होने पर, सन्तान की जवाब-दारी से जिस प्रकार पुरुष बचना चाहते उसी प्रकार स्त्रियाँ भी बचना चाहतीं। परिणामत: या तो भ्रूण हत्या होती या बाल-हत्या होती, या सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपायों से काम लिया जाता और धीरे-धीरे जनन-क्रिया के साथ ही दया, प्रेम, अहिंसा, सहानुभूति आदि का भी लोप हो जाता और संसार के प्रवाह का भी।

विवाह-प्रथा का स्थान, यदि स्त्री-पुरुष की स्वच्छन्दता को प्राप्त हो तो मनुष्यों का सांसारिक-जीवन नीरस एवं निरुद्देश्य हो जाय। उस समय अधिक से अधिक उद्देश्य, अच्छी स्त्री या अच्छे पुरुष से काम-भोग भोगना ही होता और इस उद्देश्य के साधक कारणों को ही प्रोत्साहन दिया जाता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आदि सिद्धान्त, इस उद्देश्य में बाधक माने जाते, इसलिए इन्हे समूल नष्ट किया जाता; जिससे संसार में अशान्ति छा जाती और हाहाकार मच जाता। तात्पर्य यह कि यदि विवाह को केवल विषय-भोग के लिये ही माना जावे, तब भी नैमित्तिक-सम्बन्ध की प्रथा होने पर, सांसारिक-जीवन शान्तिपूर्वक न बीत सकता।

६—विवाह विषय-भोग के लिये नहीं है।

वास्तव में विवाह दुर्विषय-भोग के लिये नहीं है; किन्तु ब्रह्मचर्य पालन की कमजोरी को धीरे-धीरे मिटाकर, ब्रह्मचर्य पालन की पूर्ण क्षमता प्राप्त करने के लिए ही है। यदि प्रतिक्षण बढ़ने वाली दुर्विषय-भोग की लालसा को, बिना विवाह किये ही विवेक से दबाने की शक्ति हो, तो विवाह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। इस शक्ति के अभाव में ही विवाह किया जाता है। जिस प्रकार यदि आग न लगने दी गई, या लगने पर तत्क्षण बुझा दी गई, तब तो दूसरा उपाय नहीं किया जाता और तत्क्षण न बुझा सकने पर—बढ़ जाने पर—उसकी सीमा करके उसे बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए, जिस मकान में आग लगी होती है, उस मकान से दूसरे मकानों का सम्बन्ध तोड़ दिया जाता है, ताकि उनमें वह फैल न सके और इस प्रकार उसे सीमित करके फिर बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। वह आग, जो लगने के समय ही न बुझाई जा सकी थी, इस उपाय से बुझ जाती है, बढ़ने नहीं पाती। यदि

पहले ही आग न लगने दी जाती या लगने के समय ही बुझा दी जाती तब तो इस सीमान्तर्गत घर की भी हानि न होती। लेकिन ऐसा न कर सकने पर, यदि आग को सीमित न कर दिया जाय, तो उसके द्वारा अनेक मकान भस्म हो जाते। ठीक यही दृष्टान्त विवाह के लिए भी है। यदि मनुष्य अपने में कामवासना की आग उत्पन्न ही न होने दे या उत्पन्न होने के समय ही उसे विवेक द्वारा बुझा सके, तब तो विवाह की आवश्यकता ही नहीं रहती। लेकिन न दबा सकने पर उस आग को विवाह द्वारा सीमित कर दिया जाता है और फिर उसे बुझाने की चेष्टा की जाती है। विवाह द्वारा कामेच्छा को सीमित कर देने से वह बढ़ने नहीं पाती और इस प्रकार मनुष्य असीम हानि से बच जाता है। यदि विषयेच्छा की आग उत्पन्न न होने देने या विवेक द्वारा उसे दबा सकने की क्षमता न होने पर भी उत्पन्न विषयेच्छा की पूर्ति के लिए स्वच्छन्दता से काम लिया जावे तो वह बढ़कर भयंकर हानि पहुँचाने वाली हो जाती है। तात्पर्य यह कि विवाह दुर्विषयेच्छा को बढ़ाने के लिए नहीं है किन्तु घटाने के लिए ही है और स्वच्छन्दता से दुर्विषय-भोग की इच्छा बढ़ती है, घटती नहीं। इसके सिवा विवाहित-जीवन बिताने में दया, अनुकम्पा आदि उन सद्गुणों का भी बहुत कुछ विकास हो सकता है, जिनका लाभ स्वच्छन्दता में नहीं हो सकता। सन्तान को पालने-पोसने की दया विवाहित-जीवन मे ही की जाती है। स्वच्छन्द-जीवन में तो उससे बचने के लिए सन्तान को नष्ट करने की ही इच्छा रहती है। इसलिए ब्रह्मचर्य न पाल सकने पर दुराचार-पूर्ण जीवन श्लाघ्य नहीं कहला सकता। इस विषय में गांधीजी लिखते हैं—'यद्यपि महाशय ब्यूरो अखण्ड ब्रह्मचर्य को ही सर्वोत्तम मानते हैं, लेकिन सबके लिये यह शक्य नहीं है; इसलिए वैसे लोगों के लिए विवाह-बन्धन केवल आवश्यक

ही नहीं वरन् कर्त्तव्य के बराबर है।' गांधीजी आगे लिखते हैं— 'मनुष्य के सामाजिक जीवन का केन्द्र एक पत्नी-व्रत तथा एक पतिव्रत ही है।' यह तभी हो सकता है, जब स्वच्छन्दता को बुरा समझा जावे और उसे विवाह-बन्धन द्वारा त्यागा जावे।

जो लोग, पर-स्त्री-पति और स्व-स्त्री-पति के विषय-भोग में समान पाप मानते हैं, वे भी गलत रास्ते पर हैं। स्व-स्त्री-पति और पर-स्त्री-पति के विषय-भोग में प्रत्येक दृष्टि से बहुत ही अन्तर है, जिसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर कराया भी जा चुका है। इसलिए ब्रह्मचर्य के अभाव में, अविवाहित जीवन, सर्वथा निन्द्य है।

विवाह पुरुष और स्त्री के आजीवन साहचर्य का नाम है। यह साहचर्य काम-वासना की दवा, और ब्रह्मचर्य के समीप पहुँचाने का साधन है। पाश्चात्य विद्वान् ब्यूरो लिखता है कि विवाह करके भी, विषय-विलासमय असंयम, धार्मिक और नैतिक, दोनों ही दृष्टि से अक्षम्य अपराध है। असंयम से वैवाहिक-जीवन को ठेस पहुँचती है। सन्तानोत्पत्ति के सिवा और सभी प्रकार की काम-वासना-तृप्ति दाम्पत्य प्रेम के लिये बाधक और समाज तथा व्यक्ति के लिए हानिकारक है' इस कथन द्वारा ब्यूरो ने, जैन-शास्त्रों के कथन को पुष्ट किया है। जैन-शास्त्र, तो इसके आद्यप्रेरक ही हैं। गांधीजी भी लिखते हैं—'विवाह बन्धन की पवित्रता को कायम रखने के लिए भोग नहीं, किन्तु आत्म-संयम ही जीवन का धर्म समझा जाना चाहिये। विवाह का उद्देश्य, दम्पती के हृदयों से विकारों को दूर करके उन्हें ईश्वर के निकट ले जाना है।'

७—विवाह विषयक अधिकार।

विवाह रूपी आजीवन साहचर्य, ऐसे स्त्री-पुरुष का होता है, जो स्वभाव, गुण, आयु, बल, वैभव, कुल और सौन्दर्य आदि को

दृष्टि में रखकर, एक दूसरे को पसन्द करें। स्त्री-पुरुष में से, किसी एक की पसन्दगी पर विवाह नहीं होता है, किन्तु दोनों की पसन्दगी से किया हुआ विवाह ही, विवाह के अर्थ मे माना जा सकता है। किसी एक की इच्छा और दूसरे की अनिच्छा पर होने वाला विवाह, विवाह नहीं है। विवाह-बन्धन स्त्री और पुरुष दोनों की स्वेच्छा पर ही निर्भर है।

विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने में, पुरुष और स्त्री के अधिकार समान ही हैं। अर्थात् जिस प्रकार पुरुष, स्त्री को पसन्द करना चाहता है, उसी प्रकार, स्त्री भी पुरुष को पसन्द करने की अधिकारिणी है। बल्कि इस समय में स्त्रियों के अधिकार पुरुषो से भी अधिक हैं। स्त्रियाँ अपने लिए वर पसन्द करने को स्वयम्वर करती थी, ऐसे प्रमाण तो जैन-शास्त्र और अन्य ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं, लेकिन पुरुषो ने अपने लिए स्त्री पसन्द करने को, स्वयम्वर की ही तरह का कोई स्त्री सम्मेलन किया हो, ऐसा प्रमाण कहीं नहीं मिलता। इस प्रकार पूर्वकाल में स्त्री की पसन्दगी को विशेषता दी जाती थी। फिर भी यह बात नहीं थी कि जिस पुरुष को स्त्री पसन्द करे, पुरुष के लिए उसके साथ विवाह करना आवश्यक हो। स्त्री के पसन्द करने पर भी, यदि पुरुष की इच्छा उसके साथ विवाह करने की नहीं है, तो विवाह करने से इन्कार कर देना, कोई नैतिक या सामाजिक अपराध नहीं माना जाता था, न अब माना जाता है। विवाह के लिए, स्त्री और पुरुष, दोनों ही को समान अधिकार हैं, और यह नहीं है कि पसन्द आने के कारण, पुरुष, स्त्री के साथ और स्त्री, पुरुष के साथ, विवाह करने के लिए नीति या समाज की ओर से बाध्य हो। विवाह तभी हो सकता है, जब स्त्री-पुरुष, एक दूसरे को पसन्द करले, और एक दूसरे के साथ विवाह करने के इच्छुक हों, इस विषय में जबरदस्ती को जरा भी स्थान नहीं है।

ग्रन्थकारों ने, विशेषतः तीन प्रकार के विवाह बताये हैं; देव-विवाह, गन्धर्व-विवाह और राक्षस-विवाह। ये तीनों विवाह क्रमशः उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ माने जाते है। इन तीनो विवाहो की व्याख्या नीचे दी जाती है।

जो विवाह, वर और कन्या, दोनों की पसन्दगी से हुआ हो, जिसमें वर ने कन्या के और कन्या ने वर के गुण-दोष देखकर एक दूसरे ने, एक दूसरे को अपने समान माना हो तथा जिस विवाह के करने से वर और कन्या के माता-पिता आदि अभिभावक भी प्रसन्न हों, जो विवाह, रूप, गुण, स्वभाव आदि की समानता से, विधि और साक्षीपूर्वक हुआ हो और जिस विवाह में, दाम्पत्य-कलह का भय न हो तथा जो विवाह, दुर्विषय-भोग की इच्छा से नहीं, किन्तु पूर्ण-ब्रह्मचर्य के आदर्श तक पहुँचने के उद्देश्य से किया गया हो, उसे, देव-विवाह कहते हैं। यह विवाह उत्तम माना जाता है।

जिस विवाह मे, वर ने कन्या को और कन्या ने वर को पसन्द कर लिया हो, एक दूसरे पर मुग्ध हो गये हों, किन्तु माता-पिता आदि अभिभावक की स्वीकृति के बिना ही, एक ने दूसरे को स्वीकार कर लिया हो एवं जिसमे देश प्रचलित विवाह-विधि पूरी न की गई हो उसे गन्धर्व-विवाह कहते हैं। यह विवाह, देवविवाह की अपेक्षा मध्यम और राक्षस-विवाह की अपेक्षा अच्छा माना जाता है।

राक्षस-विवाह उसे कहते हैं, जिसमे वर और कन्या, एक दूसरे को समान रूप से न चाहते हों, किन्तु एक ही व्यक्ति दूसरे को चाहता हो, जिसमें समानता का ध्यान न रक्खा गया हो, जो किसी एक की इच्छा और दूसरे की अनिच्छापूर्वक जबरदस्ती या

अभिभावक की स्वार्थ-लोलुपता से हुआ हो और जिसमे देश-प्रचलित उत्तम विवाह-विधि को ठुकराया गया हो तथा वैवाहिक नियम भंग किये गये हो। यह विवाह, उक्त दोनों विवाहों से निकृष्ट माना जाता है।

८—विवाह-योग्य अवस्था

पहले बताया जा चुका है कि कम से कम आयु का चौथा भाग, यानी २५ और १६ वर्ष की अवस्था तक तो पुरुष-स्त्री को अखण्ड-ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिये। इसके अनुसार विवाह की अवस्था, २५ वर्ष और १६ वर्ष से कम नहीं ठहरती है। किसी भी ग्रन्थ से, विवाह-वय और सहवासवय का अलग उल्लेख नहीं पाया जाता, किन्तु विवाह और सहवास के एक ही साथ होने का प्रमाण मिलता है अर्थात् वही विवाह-वय और वही सहवास-वय। वैद्यक-ग्रन्थ कहते हैं—

पंचविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वाऽगतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥

'वीर्य और रज की अपेक्षा से, २५ वर्ष का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री, परस्पर समान हैं, इस बात को कुशल वैद्य ही जानते हैं।'

इसके अनुसार विवाह की अवस्था पुरुष की २५ वर्ष और स्त्री की १६ वर्ष ठहरती है। इस अवस्था में स्त्री और पुरुष, इस बात के निर्णय पर भी पहुंच सकते हैं कि हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं या नहीं? अर्थात् विवाह की आवश्यकता का अनुभव, इस अवस्था या इससे अधिक अवस्था में ही हो सकता है और जब तक आवश्यक्ता न जान पडे, जब तक विवाह करना

धार्मिक और नैतिक दोनों ही दृष्टियों से अपराध है। जैन-शास्त्र पूर्ण ब्रह्मचर्य के प्रतिपादक हैं, इसलिए उनमें विवाह-विषयक विधि-विधान नहीं पाया जाता, लेकिन जैनशास्त्रों में वर्णित कथाओं से ही विवाह के विषय पर बहुत प्रकाश पड़ता है। जैनशास्त्रों में वर्णित कथाओं से प्रकट है कि स्त्री-पुरुष का विवाह तभी हो सकता है जब वे विद्या, कला आदि सीख चुके हों और उनके शरीर पर कामवासना का प्रभाव पड़ने लगा हो। औपपातिक सूत्र में कहा है:—

नवंगसुत्तपडिबोहिए, अट्ठारस देसीभासाविसारए गीयरती, गंधव्वणट्टकुसले, हयजोही, गयजोही, रहजोही, बाहुजोही, बाहूपमद्दी, वियालचारी, साहस्सीए अलं भोग-समत्थे या वि भवई।

'जिसके नव अंग (२ कान २ आँख २ नाक १ जीभ १ त्वचा और १ मन काम-भोग के लिए) जागृत हुए है अपने २ विषय को ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होगई है, जो अठारह देश की भाषाओं में विशारद है, गाने में, रति-क्रीड़ा में, गन्धर्व-कला में और नाट्यकला में कुशल है, अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रणयुद्ध, बाहुयुद्ध साहसी एवं निपुण और काम-भोग भोगने में समर्थ होगया है (उसका विवाह हुआ।)'

इस पाठ से पुरुष की विवाह योग्य अवस्था पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है। भगवती सूत्र में भी विवाह का वर्णन करते हुये पति-पत्नी की समानता किन बातों में देखी जाती थी, यह बताया गया है। उसमें कहा है.—

सरिसयाणं सरित्तयाणं सरिव्वयाणं सरिसलावन्नरूप-जोव्वण-गुणोववेयाणं सरिसयाणं कुलेहिंतो आणिल्लियाणं

'समान योग्यता वाली, समान त्वचा वाली, समान आयु वाली, समान लावण्य रूप यौवन और गुण वाली समान कुल की (कन्या के साथ विवाह हुआ।)'

इसके अनुसार, विवाह समान युवावस्था मे ही हो सकता है। यद्यपि उक्त प्रमाण में समान आयु भी बतलाई गई है, लेकिन उसके साथ ही, समान यौवन भी कहा गया है और ऊपर वैद्यक ग्रन्थ का हवाला देकर, यह भी बताया जा चुका है कि २५ वर्ष की अवस्था का पुरुष तथा १६ वर्ष की अवस्था की स्त्री, समान हैं। स्थानांग सूत्र की टीका में भी कहा गया है—

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन संगता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिलं हृदि॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा॥

५ वाँ स्थान, २ रा उद्देशा।

'जिसकी अवस्था १६ वर्ष की हो चुकी है, ऐसी स्त्री, जिसकी अवस्था २० वर्ष की हो चुकी है, ऐसे पुरुष से मिलने पर और रक्त, वीर्य वायु, गर्भाशय-मार्ग तथा हृदय शुद्ध होने पर, वीर्यवान पुत्र उत्पन्न करती है। इससे कम अवस्था वाली स्त्री यदि कम अवस्था वाले पुरुष से संगम करे, तो रोगी, अल्पायुषी तथा आलसी सन्तान उत्पन्न करती है, या गर्भाधान ही नहीं होता।'

यद्यपि यह कहने वाले टीकाकार ने, पुरुष की अवस्था २० वर्ष की ही बताई है, लेकिन स्त्री की अवस्था तो १६ वर्ष ही कही है। अर्थात् जितने भी प्रमाण दिये गये हैं, उन सब से स्त्री की विवाह योग्य अवस्था १६ वर्ष से अधिक ही ठहरती है; कम नहीं। इस

प्रकार पुरुष का विवाह २० या २५ वर्ष और स्त्री का विवाह १६ वर्ष की या इससे अधिक अवस्था मे ही हो सकता है; कम अवस्था में नहीं। कम अवस्था में विवाह होने पर क्या हानि होती है, यह बात आगे बताई गई है।

६—विवाह की संख्या

प्रकृति पर दृष्टिपात करने से, यह बात स्पष्ट है कि एक पुरुष एक ही स्त्री के साथ और एक स्त्री, एक ही पुरुष के साथ विवाह कर सकती है; अधिक के साथ नहीं। यद्यपि, जैन-शास्त्रों में और अन्य ग्रन्थों में, अधिक विवाह की बातें बहुत मिलती हैं, लेकिन अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करना, उस समय की संस्कृति थी और उस समय के पुरुष, अधिक स्त्रियो का होना, एक विशेषता और सौभाग्य की बात मानते थे। उस समय की स्त्रियाँ भी, विशेषतः ऐसे ही पुरुष को पसन्द करती थीं, जो वैभवशाली, यशस्वी, वीर और सुन्दर हो। ऐसे पुरुष के, कितनी ही स्त्रियाँ क्यो न हों, उस समय की स्त्रियाँ, इस बात की अपेक्षा नहीं करती थीं। उस समय की संस्कृति कुछ भी रही हो और अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करने का कुछ भी कारण क्यों न रहा हो, लेकिन आजकल ऐसा करना, उचित नहीं कहला सकता। किसी भी व्यक्ति को, आजकल यह अधिकार नहीं है कि किसी भी वस्तु का उपभोग, परिमाण से अधिक करे। इसके अनुसार, किसी पुरुप को अधिक स्त्रियों से और किसी स्त्री को, अधिक पुरुषों से विवाह करना उचित नहीं है।

वैद्यक ग्रन्थो पर दृष्टि देने से भी, यह ज्ञात होता है, कि एक पुरुप की काम-वासना तृप्त करने के लिए एक स्त्री और एक स्त्री की काम-वासना तृप्त करने के लिये एक पुरुप पर्याप्त है। न एक पुरुष अधिक स्त्रियों की काम-वासना शान्त कर सकता है; न एक स्त्री

अधिक पुरुषों की। इसके अनुसार भी, एक पुरुष का अधिक स्त्रियो मे और एक स्त्री का अधिक पुरुषो से विवाह होना अनुचित है।

१०—पति-पत्नी पर उत्तरदायित्व।

विवाहित-जीवन, सुखपूर्वक निभाने की जिम्मेदारी, स्त्री और पुरुष दोनो पर समान रूप से है। हाँ, इसके लिए एक दूसरे का सहायक अवश्य है। फिर भी किसी ऐसे कार्य में जिसका दुष्प्रभाव अपने आप पर ही नहीं, किन्तु भावी सन्तान या दूसरे लोगों पर भी पडता है, उसमे सहायता करना, नैतिक, सामाजिक और धार्मिक, तीनो ही दृष्टियो से अपराध है। उदाहरण के लिए, सन्तान के बालक होने (पर्याप्त आयु की न होने) पर भी, पुरुष का स्त्री को और स्त्री का पुरुष को प्रसन्न करने के लिए—उसकी इच्छा पूरी करने के लिए—मैथुन में प्रवृत्त होना। ऐसा करने से, एक छोटे बालक की माता गर्भवती हो सकती है; जिससे उस छोटे बालक का विकास मारा जाता है, उसे रोग घेर लेते हैं और गर्भ का बालक भी पुष्ट नहीं होता, किन्तु क्षीण दशा में पहुँचता जाता है। इस प्रकार दोनों ही बालको का जीवन, कष्टमय हो जाता है; इसलिए ऐसे कार्यों में दम्पती का एक दूसरे की सहायता करना भी अपराध ही है।

६

आधुनिक विवाह ।

विवाह कब, किस अवस्था मे और किन नियमों के साथ होता है, यह थोड़े मे बताया जा चुका है। अब यह देखना है कि आज-कल की विवाह-प्रथा क्या है, विवाह के नियमादि का पालन किस प्रकार किया जाता है और यदि उन नियमो की अवहेलना की जाती है तो क्या हानि होती है ? यह देखने के लिये इस प्रकरण को बाल-विवाह और बेजोड़ विवाह, इन दो भागों में विभक्त करके क्रमशः दोनो पर विचार किया जाता है।

१–बाल-विवाह

पूर्व प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि पुरुष और स्त्री की, विवाह-योग्य कम से कम अवस्था २० या २५ और १६ वर्ष है। इसके साथ ही यह भी बताया गया है कि पुरुष और स्त्री किस योग्य हो, तब विवाह होता है। आधुनिक समय के विवाहो में, पूर्व-वर्णित विवाह-नियमों की अवहेलना की जाती है। यद्यपि पुरुष-स्त्री, विवाह-बन्धन मे तभी बँध सकते हैं, जब वे आजीवन

ब्रह्मचर्य पालने की अपनी अशक्तता का अनुभव कर लें, लेकिन आज के विवाहों में ऐसे अनुभव के लिए समय ही नहीं आने दिया जाता। जैन-समाज मे ही नहीं, किन्तु भारत के अधिकांश लोगों मे पुरुष-स्त्री, युवक-युवती होने के बदले, बालक-बालिका का ही विवाह किया जाता है। अधिकांश बालक-बालिका के माता-पिता अपने बच्चो का विवाह ऐसी अवस्था में कर देते हैं, जबकि वे बच्चे विवाह की आवश्यकता, उसकी जबरदस्ती और उसका भार समझने के लिये अयोग्य ही नहीं, किन्तु इस ओर से ही अनभिज्ञ होते हैं। यद्यपि बालक-बालिकाओ की वह अवस्था, खेलने-कूदने योग्य है, लेकिन उनके माता-पिता उन बच्चो के अन्य-अन्य खेल-कूद देखने के साथ ही साथ, विवाह का खेल देखने की लालसा से, अपने दुधमुंहे बच्चे के जीवन का सर्वनाश कर देते हैं।

अभागे भारत में, ऐसे-ऐसे बालक-बालिकाओ के विवाह सुने जाते हैं, जिनकी अवस्था एक वर्ष से भी कम होती है। अपने बालक या बालिका को दूल्हे या दुल्हिन के रूप में देखने को लालायित माँ-बाप, अपनी जवाबदारी और सन्तान की भावी उन्नति सब को, बाल-विवाह की अग्नि में भस्म कर देते हैं। अपने क्षणिक सुख के लिए अपने अबोध बालकों को, भोग की धधकती हुई ज्वाला मे, भस्म होने के लिए छोड़ देते हैं और अपनी सन्तान को उसमें जलते देख कर भी, आप खड़े-खड़े हँसते तथा यह अवसर देखने को मिला, इसके लिए अपना अहोभाग्य मानते हैं।

आज के अधिकांश लोगों को यह भी पता नहीं है कि हमारा विवाह कब, किस प्रकार और किस विधि से हुआ था; तथा विवाह के समय, हमें कौन-कौनसी प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ी थी। उन्हे पता भी कहाँ से हो? वे जाने भी तो कैसे? उनका विवाह तो तब हुआ

होगा, जब वे, माँ की गोद मे बैठकर दूध पिया करते होंगे, नंगे शरीर, बच्चों के साथ खेला करते होंगे और विवाह तथा वधू किस जानवर का नाम है, अपनी बुद्धि से यह भी न जानते होंगे। उन्हे, घोड़े पर और मण्डप के नीचे उसी प्रकार बैठा दिया गया होगा, जिस प्रकार मन्दिरों मे मूर्तियाँ बैठा दी जाती है। जब ब्राह्मण लोग, पति-पत्नी के परस्पर के वचनों का पाठ कर रहे होंगे, तब वे, नाई और नाइन की गोदी में सो रहे होंगे। जब उन्हें भाँवरें दिलाई जाती होगी—यानी फेरे दिये जाते होंगे—तब वे, अपने पैरों से नहीं, किन्तु नाई या नाइन के पैरो से चलते रहे होंगे। ऐसी दशा मे वे विवाह की बातें जानें और बतावे तो कहाँ से?

एक सज्जन कहते थे, कि मुझे एक विवाह मे सम्मिलित होने का मौका मिला। उस विवाह में पति और पत्नी, दोनों ही अल्पवयस्क थे। रात के समय जब कि विवाह होता था—कन्या मण्डप में ही सो गई। लग्न के समय, कन्या की माँ ने कन्या को जगाते हुए कहा कि बेटी! उठ, तेरे लग्न करे। लडकी की अवस्था ऐसी थी, कि वह 'लग्न' शब्द को ही न जानती थी। माँ के जगाने पर, लडकी ने माँ से कहा कि—मुझे तो नींद आती है, तू अपने ही लग्न करले! यह कहकर लड़की फिर सो गई और अन्त मे उसका विवाह निद्रावस्था में ही हुआ।

विचारने की बात है कि जो बालक-बालिका लग्न या विवाह का नाम भी नहीं जानते, उनका विवाह कर देने पर, वे विवाह सम्बन्धी नियमों का पालन किस प्रकार कर सकेंगे? उन्हे जब अपने विवाह का ही पता नहीं है, तब वे विवाह विषयक प्रतिज्ञाओं को क्या जानें और उनका पालन कैसे करे? सच्ची बात तो यह है कि इस प्रकार की अबोध अवस्था में होने वाले विवाह को विवाह कहना ही अन्याय है!

जमाई या बहू के शौकीन माँ-बाप और मालताल के चट्टू बाराती, बालक और बालिका रूपी छोटे-छोटे बछड़ो को सांसारिक जीवन की गाड़ी मे जोत कर आप उस गाड़ी पर सवार हो जाते हैं। अर्थात् सांसारिक जीवन का बोझ उन पर बलात् डाल देते हैं। अपनी स्वार्थ-भावना के वश होकर वे लोग नीति की (बाल-विवाह-विरोधी) बातो को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, उनका उपहास करते हैं और उन्हें पददलित कर डालते हैं। यद्यपि वे यह सब कुछ करते हैं अच्छा समझकर, हर्ष तथा प्रसन्नता के लिए और अपनी सन्तान को सुखी बनाने के लिए; लेकिन वास्तव में ऐसे लोग जिस बाल-विवाह को अच्छा समझते हैं, वह कभी-कभी बहुत ही बुरा; जिसे हर्ष का कारण समझते हैं, वही शोक का कारण और जिसे सन्तान को सुखी बनाने का साधन मानते हैं, वही सन्तान को दुःखी बनाने का उपाय भी हो जाता है। कुछ लोग, इस बात को समझते भी होंगे, लेकिन सामाजिक नियमों से विवश होकर या देखा-देखी, बाल-विवाह के घोर पातकमय कार्य मे प्रवृत्त होते हैं और सामाजिक नियम तथा अनुकरण करने वाले स्वभाव के लट्ठ से, बुद्धि को—विवाह करने तक के वास्ते—दूर खदेड़ आते है।

नाती-पोते द्वारा अपने जीवन को सुखी मानने वाले लोग, अपनी सन्तान का बाल्यावस्था में विवाह करके ही सन्तोष नहीं करते, किन्तु विवाह के समय में ही—या कुछ ही दिन पश्चात् अबोध पति-पत्नी को, उनका उज्ज्वल और सुखमय भविष्य, काला और दुःखमय बनाने के लिए, एक कोठरी में भी बन्द कर देते है। उन बालक-बालिका मे, प्रारम्भ से ही ऐसे संस्कार डाले जाते हैं, जिनके कारण, वे अयोग्य अवस्था में ही मैथुन से स्नेह करने लगते हैं। इस प्रकार के संस्कारों में, यदि कुछ कमी रह जाती है, तो उसकी पूर्ति, विवाह समय के गीतों से पूरी हो जाती है और वे बालक-बालिका

अपने माता-पिता की पोते-पोती विषयक लालसा पूरी करने के लिए, दुर्विषय-भोग के अथाह सागर में–अशक्त होते हुए भी–कूद पड़ते हैं।

२–धार्मिक दृष्टि से बाल-विवाह

कुछ लोगो ने बालविवाह की पुष्टि के लिए, धर्म की भी ओट ले रखी है और बालविवाह न करना, धार्मिक दृष्टि से अपराध बतलाया जाता है। लेकिन जो लोग, बालविवाह को धार्मिक रूप देते हैं, उन्हीं के ग्रन्थो मे लिखा है—

अज्ञातपतिमर्यादामज्ञातपतिसेवनाम् ।
नोद्वाहयेत्पिता बालामज्ञातधर्मशासनाम् ॥

—हेमाद्रि।

'पिता, ऐसी कम अवस्था वाली कन्या का विवाह कदापि न करे जो, पति की मर्यादा, पति की सेवा और धर्म शासन को न जानती हो।'

इसके सिवा आवश्यक ब्रह्मचर्य के विषय मे, मनुस्मृति का जो प्रमाण दिया गया है, उससे भी बाल-विवाह का निषेध ही होता है। बाल-विवाह न करने को धार्मिक अपराध बताने वाले लोग, 'अष्ट-वर्षा भवेद् गौरी' आदि का जो एक पाठ प्रमाण-रूप बताते हैं, मनु-स्मृति और हेमाद्रि के उक्त प्रमाणों से, बाल-विवाह का विधान करने वाला वह पाठ, प्रक्षिप्त ठहरता है। जान पड़ता है कि यह पाठ उस समय बनाया गया है जब भारत में मुसलमानो का जोर था और वे लोग स्त्रियो और विशेषतः अविवाहित युवतियों का बलात् अपहरण करते थे। मुसलमानो से स्त्रियो की रक्षा करने के लिए ही, सम्भवतः यह पाठ बनाया गया था; क्योंकि मुसलमान लोग, विवाहित स्त्रियों की अपेक्षा अविवाहित-स्त्रियो का अपहरण अधिक करते थे। इसलिये

विवाह हो जाने पर स्त्रियाँ इस भय से बहुत कुछ मुक्त समझी जाती थीं।

यद्यपि मुसलमानी काल मे बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित अवश्य हो गई थी, लेकिन आजकल की भाँति, अल्पवयस्क पति-पत्नी को विवाह-समय मे ही सहवास नहीं कराया जाता था। किन्तु सहवास का समय विवाह समय से भिन्न होता था। आज मुसलमान काल की सी स्थिति न होने पर भी, बाल-विवाह प्रचलित है और सहवास की भी कोई निश्चित अवस्था नहीं है।

तात्पर्य यह है, कि बाल-विवाह किसी भी धर्म के शास्त्रों में, उचित या आवश्यक नहीं बताया गया है; किन्तु ऐसे विवाहो का निषेध ही किया गया है ?

३—बाल-विवाह से हानि

बाल-विवाह द्वारा, प्राचीन विवाह-नियम भंग करने वालो को प्रकृति-दत्त दण्ड भी भोगना पड़ता है। प्रकृति अपने नियम भंग करने वाले के साथ, किंचित भी नर्मी का व्यवहार नहीं करती, किन्तु दण्ड देती है। अतः अब यह देखते है कि बाल-विवाह के कारण प्रकृति द्वारा कौनसा दण्ड मिलता है यानी बाल-विवाह से क्या क्या हानि होती है।

युवावस्था से पूर्व, स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य अपरिपक्व रहता है। बाल-विवाह और समय से पूर्व दाम्पत्य सहवास से अपरिपक्व रज-वीर्य नष्ट होता है। अपरिपक्व रज-वीर्य नष्ट होने से शरीर की रस से लेकर मज्जा तक सभी धातुयें शिथिल हो जाती है; जिससे शारीरिक विकास रुक जाता है। सौन्दर्य, उत्साह, प्रसन्नता और अंगों की शक्ति घट जाती है। आयुबल भी कम हो जाता है। रोग-

शोक घेरे रहते हैं। असमय में ही दाँत गिर जाते हैं, बाल पकने लगते हैं तथा आँखो की ज्योति क्षीण हो जाती है। थोड़े ही दिनों में पुरुष नपुंसक और स्त्री स्त्रीत्व-रहित हो जाती है। इस प्रकार पति-पत्नी का जीवन दुःखमय हो जाता है।

रही सन्तानोत्पत्ति की बात। इस विषय में वैद्यक-ग्रंथ कहते हैं—

ऊनषोडशवर्षायाम् अप्राप्तः पंचविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥
जातो वा न चिरञ्जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

सुश्रुत

'यदि सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री में, २५ वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष गर्भाधान करे तो वह गर्भ उदर मे ही नाश को प्राप्त होता है। यदि उस गर्भ से सन्तान उत्पन्न भी हुई तो जीवित नहीं रहती है और जीवित भी रही तो अत्यन्त दुर्बल अंग वाली होती है इसलिये कम आयु वाली स्त्री में कभी गर्भाधान न करना चाहिए।'

इस प्रकार, सन्तानोत्पत्ति के लिए भी बाल-विवाह घातक ही है। इंगलैंड में मनुष्यों की औसत आयु ५१ और बाल-मरण प्रति-सहस्र ७५ है; लेकिन भारत के मनुष्यों की औसत आयु केवल २३ वर्ष और बाल-मरण प्रतिसहस्र १६४ है। इस महान् अन्तर का कारण यही है कि इंगलैंड में बाल-विवाह की घातक प्रथा नहीं है लेकिन भारत मे इस प्रथा ने, अधिकांश लोगों के हृदय में अपना घर बना लिया है। पौत्रादि के इच्छुक लोग, अपने बालक-बालिका का विवाह करते तो हैं—पोते पोती के सुख की अभिलाषा से, लेकिन

असमय में उत्पन्न सन्तान मृत्यु के मुख मे जाकर, ऐसे लोगो को और विलाप करने के लिये छोड़ जाती है, अपने माता-पिता को अशक्त बना जाती है तथा इस प्रकार से उन्हे अपने दुष्कृत्यों का दण्ड दे जाती है। इङ्गलैंड की अपेक्षा, भारत के लोगों की औसत आयु कम होने के कारण, बाल-विवाह द्वारा होने वाले रोग और असमय के वीर्य-पात से होने वाली कमजोरी है। इसी घातक-प्रथा के कारण अनेक स्त्रियाँ प्रसवकाल में ही परलोक को प्रस्थान कर जाती हैं, या सदा के लिए रोग-ग्रस्त हो जाती हैं और फिर रोगी सन्तान उत्पन्न करके भावी सन्तति के लिए काँटे बिछा जाती हैं।

बाल-विवाह के विषय में गांधीजी लिखते हैं, कि 'हिन्दुस्तान को छोड़कर और किसी भी देश में, बचपन से ही विवाह की बातें बालको को नहीं सुनाई जाती। यहाँ तो, माता-पिता की एक ही अभिलाषा रहती है कि लड़के का विवाह कर देना। इससे, असमय में ही बुद्धि और शरीर का ह्रास होता है। हम लोगों का जन्म भी प्रायः बचपन के ब्याहे माता-पिता से हुआ है। हमें ऐसा लोकमत बनाने की जरूरत है कि जिसमें बाल-विवाह असम्भव हो जावे। हमारी अस्थिरता, कठिन और अविरल श्रम से अनिच्छा, शारीरिक अयोग्यता, शान से शुरू किये गये हमारे कामों का बैठ जाना और मौलिकता का अभाव इत्यादि, इन सब के मूल में, मुख्यत. हमारा अत्यधिक वीर्यनाश ही है।

गांधीजी आगे लिखते हैं कि—'जो माँ-बाप, अपने बच्चो की सगाई बचपन में ही कर देते हैं, वे उन बच्चो को बेचकर घातक बनते हैं। अपने बच्चो का लाभ देखने के बदले, वे अपना ही अन्धस्वार्थ देखते हैं। उन्हें तो आप बड़ा बनना है, अपनी जाति-बिरादरी में नाम कमाना है, लड़के का ब्याह करके तमाशा देखना है। लड़के का

हित देखें तो उसका पढ़ना लिखना देखे, उसका जतन करें, उसका शरीर बनावे। घर गृहस्थी की खटखट मे डाल देने से बढ़कर, उसका दूसरा कौनसा बड़ा अहित हो सकता है ?'

यदि यह कहा जावे कि धार्मिकता की दृष्टि से विवाह तो बचपन मे कर दिया जाता है, लेकिन सहवास नहीं होता है; तो पहले यह कथन, सर्वथा नही तो बहुत अंश में गलत है। क्योंकि, प्रायः विवाह समय में ही सहवास होना सुना जाता है। कदाचित् उस समय सहवास न होता हो, तो फिर बचपन में विवाह किस दृष्टि से किया जाता है ? ऐसे विवाह का विधान तो, किसी भी धर्म के शास्त्र नहीं करते और ऐसे विवाह प्रत्यक्ष ही हानिप्रद हैं। बचपन मे व्याहे गये पति-पत्नी की अवस्था में, विशेष अन्तर नहीं होता। जिस समय, कन्या युवती मानी जाती है, उस समय उसका पति, युवावस्था मे पदार्पण भी नहीं कर पाता। बहू युवती है, इस लोक-लाज के भय से, माता-पिता की दृष्टि में, अपने अल्पवयस्क पुत्र के लिए स्त्री-सहवास आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार, उस हानि से बचा नहीं जा सकता, जो बाल-विवाह से होती है। इसके सिवा, बचपन मे विवाहे गये पति-पत्नी, आगे चलकर कैसे-कैसे स्वभाव के होंगे, उनके रूप, गुण, शारीरिक विकास, शक्ति आदि में कैसी विषमता होगी, इसे कोई नहीं जान सकता। पति-पत्नी में विषमता होने से, उनका जीवन भी क्लेशमय ही बीतता है।

बचपन में विवाह होने से, विधवाओं की भी संख्या बढ़ती है। समाज में, एक-एक, दो-दो और चार-चार वर्ष की अवस्था वाली बाल-विधवाएँ दिखाई देना, बाल-विवाह का ही कटुफल है। चेचक आदि बीमारी से, बालक-पति की तो मृत्यु हो जाती है और बालिका-पत्नी, वैधव्य भोगने के लिए रह जाती है। जिस पति से, उस अबोध

वालिका ने कोई सुख नहीं पाया है। हृदय मे जिसकी स्मृति का कोई साधन नहीं है, जिसके नाम पर वैधव्य भोगने का कोई कारण नहीं है, उस पति के नाम पर, एक वालिका से वैधव्य पालन कराने का कारण बाल-विवाह ही है। ऐसी बाल-विधवा, अपनी वैधव्यावस्था किस सहारे से व्यतीत कर सकेगी, यह देखने की आवश्यकता भी नहीं समझता।

तात्पर्य यह कि सहवास न होने पर भी, बाल-विवाह हानिप्रद ही है। विवाह हो जाने पर, वालक पति-पत्नी, ज्ञान और विद्या से भी बहुत कुछ पिछड़े रह जाते हैं, तथा एक दूसरे के स्मरण से, वीर्य में दोष पैदा हो जाता है। इसलिए बाल-विवाह त्याज्य है।

४—बेजोड़-विवाह

बेजोड़-विवाह भी, पूर्व की विवाह-प्रथा और आज की विवाह-प्रथा में भिन्नता बताता है। यद्यपि विवाह मे, वर और कन्या की पूर्व-वर्णित समानता देखना आवश्यक है, लेकिन आज के अधिकांश विवाहो मे, इस बात का ध्यान बहुत कम रक्खा जाता है। आज के बेजोड़-विवाहों को देखकर, यदि यह कहा जावे, कि वर या कन्या के साथ नहीं, किन्तु धन-वैभव या कुल के साथ विवाह होता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। यद्यपि संसार में प्रत्येक प्राणी, अपनी समानता वाले को ही अधिक पसन्द करते हैं और विवाह के लिये तो यह बात विशेष ध्यान में रखने योग्य है, लेकिन आजकल के बहुत से विवाह, ऊँट और बैल की जोड़ी—से होते हैं। ऐसे विवाह विशेषतः धन या कुल के कारण ही होते हैं अर्थात् या तो धन के लोभ से बेजोड़-विवाह किया जाता है या कुल के लोभ से। बेजोड़-विवाह में, धन का लोभ दो प्रकार का होता है। एक तो यह कि लड़के या लड़की की ससुराल धनवान होगी, इसलिए बड़ी अवस्था वाली कन्या के साथ

छोटी अवस्था वाले पुरुष का, या छोटी अवस्था वाली कन्या के साथ बड़ी अवस्था वाले पुरुष का विवाह कर दिया जाता है। दूसरे कन्या या वर के बदले में द्रव्य प्राप्त होगा, इसलिए भी ऐसे विवाह कर दिये जाते हैं। इसी प्रकार, कुल के लिए भी बेजोड़-विवाह किये जाते हैं; अर्थात् हमारी लड़की या हमारे लड़के की ससुराल इस प्रकार की घरानेदार या कुलवान होगी, इसलिए भी बेजोड़-विवाह किये जाते हैं।

कई माता-पिता, लोभ के वश होकर, अपनी सन्तान का हिताहित नहीं देखते और उसका विवाह, ऐसे वर या ऐसी कन्या के के साथ कर देते हैं। कई माता-पिता, अपनी अबोध कन्या को वृद्ध तक के गले मढ़ देते हैं। विशेषतः वे धन के लिए ही ऐसा करते हैं; यानी कन्या के बदले में द्रव्य लेने के लिए। द्रव्य-लालसा के आगे वे इस बात को विचारने की भी आवश्यकता नहीं समझते, कि इन दोनो में परस्पर मेल रहेगा या नहीं तथा हमारी कन्या, कितने दिन सुहागिन रह सकेगी! उन्हे तो केवल द्रव्य से काम रहता है, उनकी तरफ से कन्या की चाहे कैसी ही दुर्दशा क्यों न हो!

विवाह और पत्नी के इच्छुक वृद्ध भी यह नहीं देखते कि मैं इस तरुणी के योग्य हूँ या नहीं और यह तरुणी मुझे पसन्द है या नहीं! विद्वानो का कथन है—

वृद्धस्य तरुणी विषम्।

—सूक्ति।

'वृद्ध को, तरुणी विष के समान बुरी लगती है।'

इसका उल्टा यह होगा, कि तरुणी को वृद्ध, विष के समान लगता है। जब पति-पत्नी एक दूसरे को विष के समान बुरे लगते

हो, तब उनका जीवन सुखमय कैसे बीत सकता है ? लेकिन इस बात पर, न तो धन-लोभी माता-पिता ही विचार करते हैं, न स्त्री-लोभी वृद्ध और न भोजन-लोभी बराती या पच केवल धन के बल से, एक वृद्ध उस तरुणी पर अधिकार कर लेता है, जिसका अधिकारी एक युवक हो सकता था और इसी प्रकार माता-पिता की धन-लोलुपता से, एक तरुणी को अपना वह जीवन वृद्ध के हवाले कर देना पडता है, जिस जीवन को वह किसी युवक के साथ रहकर बिताने की अभिलाषा रखती थी।

एक वृद्ध अमीर की स्त्री का देहान्त हो गया। अमीर के दोस्तों ने उस से दूसरा विवाह करने के लिए कहा। अमीर ने उत्तर दिया, कि मैं किसी बुड्ढी स्त्री के साथ विवाह नहीं कर सकता, मुझे बुड्ढी स्त्री पसन्द नहीं। दोस्तों ने उत्तर दिया, आपको बुड्ढी स्त्री के साथ विवाह करने के लिए कौन कहता है! आप तरुणी के साथ विवाह कीजिये। हम आपके लिए तरुणी की तलाश कर देंगे। दोस्तों की बात सुनकर वृद्ध अमीर ने कहा कि—जब मुझ बुड्ढे को बुड्ढी स्त्री पसन्द नहीं है, तो क्या वह तरुण स्त्री, मुझ बुड्ढे को पसन्द करेगी ? यदि नहीं, तो फिर जबरदस्ती से क्या लाभ ! अमीर की बात सुनकर, दोस्तों को शर्मिन्दा होना पडा और उन्होने अमीर के विवाह की बात छोड़ दी।

५–बेजोड़ विवाह

वृद्ध पुरुष के साथ तरुण स्त्री के विवाह के समान ही धन या कुल के लोभ से बालक पुरुष के साथ तरुणी या तरुण पुरुष के साथ बालिका भी विवाह दी जाती है। ये समस्त विवाह बेजोड़ हैं। ऐसे विवाह समाज में भयंकर हानि फैलाने वाले, भावी सन्तति का जीवन दु:खप्रद बनाने वाले और पारलौकिक-जीवन को कंटकाकीर्ण करने वाले हैं।

बेजोड़-विवाह से होने वाली समस्त हानियों का वर्णन करना शक्ति से परे की बात है, फिर भी संक्षेप में कुछ हानियाँ बताई जाती हैं। बेजोड़ विवाह से कुल की हानि होती है। विधवाओं की संख्या बढ़ती है, जिससे व्यभिचार-वृद्धि के साथ ही, आत्म-हत्या भ्रूण-हत्या आदि होती रहती हैं और अन्त में अनेक विधवाएँ वेश्या बन कर अपना जीवन घृणित रीति से बिताने लगती हैं। समाज में स्त्रियों की कमी होने से कई युवक अविवाहित रह जाते हैं और दुराचारी बन जाते हैं। बेजोड़ पति-पत्नी से उत्पन्न सन्तान भी अशक्त, अल्पायुषी और दुर्गुणी होती है।

जैन-शास्त्रों में, ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता, जो बेजोड़ विवाह का पोषक हो। अन्य ग्रन्थों में भी, बेजोड़-विवाह का निषेध ही किया गया है। जैसे:—

कन्या यच्छति वृद्धाय नीचाय धनलिप्सया।
कुरूपाय कुशीलाय स प्रेतो जायते नरः॥

स्कन्दपुराण।

'जो पिता अपनी कन्या—वृद्ध, नीच, धन के लोभी, कुरूप और कुशील पुरुष को देता है वह प्रेत-योनि में जन्म लेता है।

इसी प्रकार कन्या-विक्रय के विषय में कहा है:—

अल्पेनापि हि शुल्केन पिता कन्यां ददाति यः।
रौरवे बहु वर्षाणि पुरीषं मूत्रमश्नुते॥

आपस्तम्ब स्मृति।

'कन्या देकर बदले में थोड़ा भी धन लेने वाला पिता बहुत वर्ष तक रौरव नरक में निवास करके विष्टा-मूत्र खाता रहता है।'

आधुनिक अनमेल विवाह-प्रथा की, और भी बहुत समालोचना की जा सकती है। लेकिन विस्तार-भय से ऐसा नहीं किया गया। यहाँ तो संक्षिप्त में केवल यह बताया गया है कि आजकल की विवाह प्रथा, पहले की विवाह-प्रथा से बिल्कुल भिन्न है और इस भिन्नता से अनेक हानियाँ हैं।

६—विवाह में अपव्यय

अधिकांश आधुनिक विवाहों में, अपव्यय भी सीमातीत होता है आतिशबाजी, रण्डी, बाजे बारात और ज्ञाति-भोजनादि में इतना अधिक द्रव्य उड़ाया जाता है कि जितने द्रव्य से, सैकड़ों-हजारों लोग, वर्षों तक पल सकते हैं। धनिक लोग विवाह के अपव्यय द्वारा गरीबों के जीवन-मार्ग में काँटे बिछा देते हैं। धनिकों के आडम्बर-पूर्ण विवाह को आदर्श मानकर, अनेक गरीब भी कर्ज लेकर विवाह का आडम्बर करते हैं और धनिकों द्वारा स्थापित इस आदर्श की कृपा से अपने जीवन को, चिरकाल के लिए दुःखी बना लेते हैं। विवाह के अपव्यय में धन की ही हानि नहीं होती, किन्तु कभी कभी जन की भी हानि हो जाती है। बहुत से लोग, खाने-पीने की अनियमितता से बीमार होकर मर जाते हैं और बहुत से आतिशबाजी की अग्नि में झुलस कर, विवाह की भेंट हो जाते हैं। कई युवक विवाह में आई हुई वेश्याओं के ही शिकार बन जाते हैं। इस प्रकार आजकल की विवाह पद्धति द्वारा अपना ही सर्वनाश नहीं किया जाता, किन्तु दूसरों के सर्वनाश का भी कारण उत्पन्न कर दिया जाता है।

७—एक प्रश्न

आजकल समाज के सन्मुख विधवा-विवाह का जो प्रश्न उपस्थित है, उसके मूल कारण बाल-विवाह, बेजोड़-विवाह और विवाह की खर्चीली पद्धति ही हैं। बाल-विवाह एवं बेजोड़-विवाह के कारण

एक ओर तो विधवाओ की संख्या बढ़ जाती है और दूसरी ओर बहुत से पुरुष अविवाहित ही रह जाते हैं। इसी प्रकार विवाह की खर्चीली पद्धति के कारण भी अनेक गरीब परन्तु योग्य युवक भी अविवाहित रह जाते हैं। क्योंकि उनके पास वैवाहिक आडम्बर करने को द्रव्य नहीं होता। यदि बाल-विवाह और वेजोड़ विवाह बन्द हो जावे, विवाहों में अधिक खर्च न हुआ करे, तो विधवाओं और अविवाहित पुरुषों की बढ़ी हुई संख्या न रहने पर सम्भवतः विधवाविवाह का प्रश्न आप ही हल हो जाय।

सारांश यह कि पूर्व समय में, विवाह तब किया जाता था, जब पति-पत्नी, सर्वविरति-ब्रह्मचर्य पालने में अपने को असमर्थ मानते थे। अर्थात् विवाह कोई आवश्यक कार्य नहीं समझा जाता था; लेकिन आजकल विवाह एक आवश्यक कार्य माना जाता है। जीवन की सफलता विवाह में ही समझी जाती है। जब तक लड़के लड़की का विवाह न हो जावे, तब तक वे दुर्भागी समझे जाते हैं। इसी कारण आवश्यकता और अनुभव के विना ही विवाह कर दिया जाता है और वह भी वेजोड़ तथा हजारों लाखों रुपये व्यय करके धूमधाम के साथ। पूर्व समय की विवाह-प्रथा समाज में शान्ति रखती थी, समाज को दुराचार से बचाती थी और अच्छी सन्तान उत्पन्न करके, समाज का हित साधन करती थी। आजकल की विवाह-प्रथा इसके विपरीत कार्य करती है। बाल-विवाह, वेजोड़ विवाह और विवाह की खर्चीली पद्धति, समाज में अशान्ति उत्पन्न करती है, लोगों को दुराचार में प्रवृत्त करती है और रुग्ण एवं अल्पायुषी सन्तान द्वारा समाज का अहित करती है।

८—समाधान

वैवाहिक विषय के वर्णन पर से कोई यह कह सकता है, कि साधुओं को इन सांसारिक बातों से क्या मतलब और वे ऐसी बातों

के विषय में उपदेश क्यों दे ? इसका उत्तर यह है, कि यद्यपि इन सांसारिक बातो से साधु लोग परे हैं लेकिन साधुओं का धार्मिक जीवन नीति-पूर्ण संसार पर ही अवलम्बित है। यदि संसार मे सर्वत्र अनीति छा जावे, तो धार्मिक जीवन के लिए स्थान भी नहीं रह सकता। इसी दृष्टिकोण से—विवाह की विधि बताने के लिए ही शास्त्रों की कथा में, विवाह-बन्धन में जुड़ने वाले स्त्री-पुरुष की समानता आदि का वर्णन किया है। यह बात दूसरी है, कि उनमें बाल-विवाह, असमय के सहवास आदि का निषेध नहीं है। लेकिन उस समय इस प्रकार की कुप्रथाएँ थीं ही नहीं, इसलिए इस प्रकार के उपदेश की भी आवश्यकता न थी। अन्यथा पूर्ण ब्रह्मचर्य का ही विधान करने वाले होने पर भी, जैन-शास्त्र ऐसे अपूर्ण नहीं हैं कि उनमें सांसारिक-जीवन की विधि पर कथाओं द्वारा प्रकाश न डाला गया हो। 'सरिसयावया, सरीसतया' आदि पाठ इसी बात के द्योतक हैं कि विवाह समान युवावस्था में ही होता था।

———

१०

देशविराति ब्रह्मचर्य-व्रत ।

मातृवत्परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति ॥

'जो मनुष्य पराई स्त्री को माता के समान जानता है, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान मानता है और सब प्राणियों को अपने ही समान देखता है, वही यथार्थ देखने वाला है ।'

१—विवाहित जीवन में ब्रह्मचर्य

ऊपर यह तो कहा जा चुका है, कि जो पुरुष या स्त्री पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने मे समर्थ है, उन्हें विवाह न करना चाहिए और जो ऐसा करने मे असमर्थ हैं, उनके लिए विवाह करना, अनुचित भी नहीं माना जाता । अब देखना यह है कि विवाह करके भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है या नहीं ? और किया जा सकता है तो किस रूप में ?

प्रत्येक बात का, ऊँचे से ऊँचा और नीचे से नीचा आदर्श रहता ही है। मनुष्यमात्र से एक ही आदर्श की ओर चलने की आशा करना उचित नहीं है; क्योंकि सब लोगों मे, समान बुद्धि, शक्ति, साहस, धैर्य आदि नहीं होते। इस बात को दृष्टि मे रखकर ही जैन-शास्त्रों ने ब्रह्मचर्य का भी ऊँचे से ऊँचा और नीचे से नीचा ऐसे दोनो ही प्रकार के आदर्श बताये हैं। ब्रह्मचर्य के सबसे ऊँचे आदर्श का नाम, सर्वविरति ब्रह्मचर्य है और उससे नीचे आदर्श का नाम देशविरति ब्रह्मचर्य है। देशविरति ब्रह्मचर्य, अर्थात् आंशिक ब्रह्मचर्य।

विवाहित पुरुष-स्त्री भी देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन भलीभांति कर सकते हैं। बल्कि, देशविरति ब्रह्मचर्य का स्वीकार करना, धार्मिक एवं नैतिक-दृष्टि से प्रत्येक पुरुष स्त्री का कर्तव्य है। देशविरति ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने से, विवाहित स्त्री-पुरुष के सांसारिक कामों में, किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। क्योंकि सर्वविरति ब्रह्मचर्य में मैथुनाङ्गों सहित सब प्रकार के मैथुन का मन, वचन और काय से करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग लिया जाता है। लेकिन देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का आदर्श, इससे बहुत नीचा है। देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करने वाला जो प्रतिज्ञा करता है, वह इस प्रकार होती है :—

सदारसंतोसिए अवसेसं मेहुणं पच्चक्खामि जाव-जीवाए (देवदेवीसम्बन्धी) दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि-मणसा वयसा कायसा, मनुष्यमनुष्यणी एवं तिर्यंचतिर्यंचणी सम्बन्धी एकविहं एगविहेणं न करेमि कायसा—

इस प्रतिज्ञा के अनुसार, देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करने वाले पुरुष या स्त्री के लिए, सांसारिक काम न रुकने योग्य बहुत

गुंजायश रह जाती है। इसलिए विवाहित पुरुष-स्त्री को, देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करना एवं पालन करना चाहिये।

पुरुष और स्त्री के भेद से, देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत का नाम स्वदारसंतोष व्रत और स्वपतिसन्तोष व्रत है। इन दोनों की अलग-अलग व्याख्या की जाती है।

२–स्वदार-संतोष

जिस ब्रह्मचर्य-व्रत में, स्वदार का आगार रक्खा जाता है, उसे स्वदारसंतोष-व्रत कहते है। इस व्रत को स्वीकार करने में उन सभी स्त्रियों से मैथुन करने का त्याग करना पड़ता है जो स्व की नहीं हैं। जो स्त्री स्व (खुद) की कहलाती है उसके सिवा अन्य सभी स्त्रियाँ परदार हैं। और यह व्रत स्वीकार करने में ऐसी सभी स्त्रियो से मैथुन-सेवन का त्याग किया जाता है। इस प्रकार गृहस्थ पुरुष जिस देशविरति ब्रह्मचर्य-व्रत को स्वीकार करते हैं, उसका नाम स्वदार-संतोष-व्रत है और इस व्रत को स्वीकार करने में परदार का विरमण (त्याग) किया जाता है।

३– लाभ।

स्वदार संतोष-व्रत का बहुत माहात्म्य है। शास्त्रकारो का कथन है, कि इस व्रत को स्वीकार करने वाले पुरुष की कामेच्छा सीमित हो जाती है, जिससे वह असीम कामेच्छा के पाप से बच जाता है। परस्त्रीसेवन का त्याग करने वाले पुरुष का चित्त, परस्त्री की ओर जाता ही नहीं, जिससे उसके द्वारा परस्त्री-सेवन का पाप नहीं होता। दुराचारी की अपेक्षा उसका शरीर बलवान, मेधावी और दीर्घायुषी होता है और सन्तान भी ऐसी ही होती है। अन्य ग्रन्थकारो ने भी, इस व्रत का बहुत माहात्म्य बताया है। पुराणों के रचयिता व्यासजी कहते हैं—

स्वदारे यस्य सन्तोषः परदारनिवर्तनम् ।
अपवादोऽपि नो यस्य तस्य तीर्थफलं गृहे ॥

—व्यास स्मृति ।

'स्वदार में सन्तोष करने और पराई स्त्री से निवर्त्तने वाला पुरुष निन्दा से बच जाता है, उसका किसी प्रकार अपवाद नहीं होता तथा घर मे ही उसे तीर्थ का फल मिल जाता है।'

स्वदार-सन्तोष व्रत स्वीकार करने से, दाम्पत्य-प्रेम में भी वृद्धि होती है। पति-पत्नी में कलह नहीं होता। लोक में निन्दा नहीं होती, किन्तु विश्वासपात्र माना जाता है। धन, वैभव, बल, बुद्धि, यश, कीर्ति, निर्भयता और सद्‌गुण सुरक्षित रहते हैं। परलोक में भी वह उन दु खों से बचा रहता है, जो परदार-गामी को प्राप्त होते हैं। जैन सिद्धान्त कहते हैं, ऐसा पुरुष-राज्यभण्डार मे अन्तःपुर में साहुकार के भण्डार में और अन्यत्र कहीं जावे तो भी उसकी अप्रतीति नहीं होती।

४—परदार-गमन

स्वदार-सन्तोष व्रत रहित यानी परदार-गामी पुरुष, दुराचारी कहलाता है और वह, अपनी स्त्री को भी सन्तुष्ट रखने मे असमर्थ रहता है। ऐसे पुरुष का विश्वास, न स्वस्त्री ही करती है, न परस्त्री ही। स्व-पत्नी से सदा कलह बना रहता है। घर, दुःखमय हो जाता है। सन्तान या तो होती ही नहीं और होती भी है तो रुग्ण, अल्पायुषी और दुराचारिणी। क्योंकि माता-पिता के सद्‌गुण-दुर्गुण का प्रभाव सन्तान पर पड़ता ही है।

परदार-गामी पुरुष की लोक में अत्यन्त निंदा होती है। कोई उसका विश्वास नहीं करता। सब लोग यहाँ तक कि अपनी स्त्री भी,

उसे घृणा की दृष्टि से देखती है। उसका जीवन, कलंकित, दूषित एवं पापपूर्ण रहता है। परस्त्री की इच्छा रखने वाले पुरुष की, संचित कीर्ति भी नष्ट हो जाती है। यश, उसके पास भी नहीं फटकता। धन-वैभव, उसे त्याग देते हैं। बल, सौन्दर्य, साहस और धैर्य का उसमें अभाव-सा हो जाता है। वह दुर्गुणों और पातकों का घर बन जाता है। उसमें से सद्गुण निकल जाते हैं। भय, क्रोध, रोग, शोक, अपमान, दीनता आदि समस्त दुःख उसे घेर लेते हैं। कभी-कभी तो मृत्यु का भी आलिंगन करना पड़ता है। परदारगामी का मन सदैव कलुषित बना ही रहता है, जिससे नीति और धर्म से निषिद्ध कार्य भी सदा करता ही रहता है। इस प्रकार, उसका इहलौकिक जीवन भी दुःखमय बन जाता है और परलोक में भी उसे नरक की घोर से घोर वेदना सहनी पड़ती है।

पर-स्त्री-सेवन की बुराइयाँ बताते हुए, गांधीजी लिखते हैं कि 'जहाँ पर-स्त्री गमन न हो, वहाँ पर प्रतिशत पचास डाक्टर बेकार हो जावेंगे। पर-स्त्री गमन से होने वाले रोगो की दवाइयां भी ऐसी जहरीली होती हैं, कि यदि उन दवाइयों से एक रोग का नाश मालूम होने लगता है, तो दूसरे रोग घर कर लेते हैं और पीढ़ी दरपीढ़ी चल निकलते हैं।'

गांधीजी के कथन का अभिप्राय यह है, कि पर-स्त्री सेवन से रोग और अशक्तता का ऐसा आधिक्य हो जाता है, कि जिसका फल भावी सन्तति को भी भोगना पड़ता है। वे आगे कहते हैं कि 'मनुष्य के सामाजिक जीवन का केन्द्र, एक-पत्नीव्रत ही है।' इसलिए, स्वदार सन्तोष व्रत स्वीकार करके, पर-स्त्री का त्याग करना ही लाभप्रद है। अन्य ग्रन्थकार भी कहते हैं—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुखःभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन दृष्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥

मनुस्मृति ।

'दुराचारी पुरुष, लोक में निन्दित होता है। सदा दुःखी, रोग-ग्रस्त और अल्पायुषी होता है। इस संसार मे, पुरुष का आयुर्बल क्षीण करने वाला ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जैसा कि पराई स्त्री के साथ रमण करना है।'

परदार-गमन से, केवल आयुर्बल ही क्षीण नहीं होता, किन्तु बल, साहस, धन-वैभव आदि भी नष्ट हो जाते हैं। कैसा भी बलवान हो, कैसा भी वैभवशाली हो और कैसा भी साहसी हो, लेकिन यदि उसमे पर-स्त्री चाहने का रोग है, तो उसका समस्त बल, वैभव और साहस, गर्म तवे पर गिरी हुई जल की बूंद के समान नष्ट हो जाता है। पराई स्त्री की इच्छा करने वाला, अपनी ही हानि नहीं करता, किन्तु अपने कुल, परिवार और मित्रों की भी हानि करता है। राजा रावण में, बल की कमी नहीं थी, वैभव भी खूब था और साहस भी पर्याप्त था, लेकिन वह सदाचारी स्वदार-सन्तोषी न था, इसलिए उसका बल, वैभव तथा साहस किसी काम न आया और परिवार सहित नष्ट हो गया। यही बात मणिरथ पद्मोत्तर आदि के लिए भी है। इनमे भी यदि सदाचार का अभाव न होता तो इनके नष्ट होने का भी कोई ऐसा निन्द्य कारण न था। बौद्ध-ग्रन्थ धम्मपद में लिखा है, कि जो अविचारी, पर-स्त्री की अभिलाषा करता है, उसे चार फल मिलते हैं—(१) अपयश, (२) निद्रानाशक चिन्ता, (३) दण्ड और (४) नरक। इस प्रकार अन्य ग्रन्थो ने भी, परदार-गमन की निन्दा ही की है।

५—परदार-गमन, मांस और मदिरा के समान ही त्याज्य है।

आजकल के पुरुषो मे, शायद ऐसे पुरुष तो अधिक निकलेंगे जो मांस-मदिरा के त्यागी हो, लेकिन परदार-त्यागी पुरुष सम्भवतः बहुत कम निकलेंगे। मांस-मदिरा के त्यागी और परदार-भोगी पुरुष, सम्भवतः परदार को मांस-मदिरा की अपेक्षा ग्राह्य समझते हैं, लेकिन वास्तव मे मांस-मदिरा की अपेक्षा परदार ग्राह्य नहीं है, किन्तु मांस-मदिरा के समान त्याज्य है। मांस-मदिरा की ही तरह परदार-सेवन भी बुद्धि, धन, सौन्दर्य, दया, सहानुभूति और धर्म का नाशक एवं हिंसादि पापो मे प्रवृत्त करने वाला है। ऐसा होते हुए भी बहुत से लोग इस पाप से मांस-मदिरा के पाप की तरह नहीं बचते।

उपासक दशाङ्ग-सूत्र के ८ वें अध्ययन में, महाशतक श्रावक का वर्णन आया है। महाशतक की स्त्री रेवती मांस-भक्षिणी थी, किन्तु महाशतक पर ही अनुरक्त थी। इस कारण महाशतक ने यह विचारा होगा कि यदि मैं इसे त्याग दूँगा तो सम्भव है कि यह व्यभिचार का भयंकर पाप करने लगे। जान पड़ता है कि इसी विचार से महाशतक श्रावक ने, मांस-भक्षिणी रेवती का त्याग नहीं किया हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि महाशतक की दृष्टि में व्यभिचार आदि मांस-भक्षण से अधिक नहीं, तो उसके समान ही पाप था।

६—पत्नी को सदाचारिणी रखने के लिये स्वयं सदाचारी बनो।

बहुत से पुरुष, अपनी स्त्री से तो पतिव्रत पालन कराना चाहते हैं, उसे पर-पुरुष-गामिनी नहीं देखना चाहते, लेकिन अपने आपको, परदार-गमन के लिए स्वतन्त्र समझते हैं। ऐसे लोग जान-बूझ कर

बंबूल बोते हैं और आम खाने की इच्छा रखते हैं। किसी नियम का पालन दूसरे से तभी कराया जा सकता है, जब स्वयं भी उसका पालन करे। जब तक स्वयं द्वारा किसी नियम का पालन न किया जावे, तब तक दूसरे से उस नियम का पालन कराने में सफलता नहीं मिल सकती। यह बात दूसरी है कि परदारगामी पुरुष की स्त्री, अपना धर्म विचार कर स्वयं ही सदाचारिणी रहे, लेकिन परदारगामी पुरुष को सैद्धान्तिक-रूप में यह अधिकार नहीं रहता कि वह अपनी स्त्री को सदाचारिणी रहने के लिए बाध्य कर सके। यह अधिकार उसे तभी हो सकता है, जब वह भी सदाचार का पालन करता हो। बल्कि स्त्रियों को पर पुरुष-गामिनी बनाने वाले, परदार-गामी पुरुष ही हैं। ज्यादातर स्त्री स्वयं ही पर-पुरुष-गामिनी नहीं होती, किन्तु परदारगामी-पुरुष ही अपने लिए किसी स्त्री को पर-पुरुष-गामिनी बनाता है। अतः अपनी स्त्री को पतिव्रता, सदाचारिणी और पति-परायणा रखने के लिए भी, स्वदार-सन्तोष-व्रत स्वीकार करके पालन करना चाहिये।

७—स्व-स्त्री सेवन की मर्यादा

यद्यपि इस व्रत में, स्व-स्त्री का आगार रहता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि स्व-स्त्री से भी मैथुन करने मे स्वच्छन्दता से काम लिया जावे। क्योंकि इस व्रत का नाम, स्वदार सन्तोष है। स्वदार रमण नाम नहीं है। यदि स्वदार-रमण नाम होता तब तो स्व-स्त्री के सेवन में स्वच्छन्दता को स्थान हो सकता था, लेकिन स्वदार-सन्तोष नाम में, स्वच्छन्दता को स्थान ही नहीं रहता। इस-लिए आगार होने पर भी, स्वदार-सेवन मे नीतिकारों की बताई हुई मर्यादा का पालन करना आवश्यक है। नीतिकारो का कथन है.—

सन्तानार्थञ्च मैथुनम्।

'मैथुन का विधान, सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही है।'

वैद्यक मतानुसार, रजोदर्शन से पूर्व स्त्री-पुरुष का संसर्ग सन्तानोत्पत्ति के लिए निरर्थक है और ऋतु-स्नान के सिवा अन्य समय में किये गये मैथुन से वीर्य वृथा जाता है। इसलिये ग्रन्थकारों ने कहा है—रजोदर्शन से पहले,, स्त्री-संसर्ग न करे। इस प्रकार, ऋतु-स्नान से पूर्व, स्त्री-सेवन का भी निषेध किया गया है। ऋतु-स्नान से पूर्व स्त्री-सेवन द्वारा वीर्य को वृथा नाश करने वाले के लिए ग्रन्थकार कहते हैं:—

व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्।

—निर्णयसिन्धु।

वीर्य को वृथा खोने से, ब्रह्महत्या का पाप होता है।

इस प्रकार स्वच्छन्दता से, अपनी स्त्री का सेवन करने का भी निषेध किया गया है। वैद्यक मतानुसार, स्व-स्त्री के साथ भी अति मैथुन करने से, शारीरिक-शक्ति क्षीण होती है, वीर्य पतला पड़ता है, सन्तान दुर्बल, अल्पायुषी और दुर्गुणी होती है। अति मैथुन करने वाला अच्छे कार्य नहीं कर सकता। ऐसा पुरुष यदि कभी अपनी स्त्री से अलग रहे, तो उसमे व्यभिचार दोष का आ जाना बहुत सम्भव है। क्योंकि वह अपनी मैथुनेच्छा को रोकने मे असमर्थ हो जाता है, इसलिए दुराचार मे पड़ना आश्चर्य की बात नहीं। अति मैथुन से आँखों की ज्योति क्षीण हो जाती है, दाँत गिर जाते हैं और शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। अति मैथुन के कारण क्षय, प्रमेह, स्वप्नदोष, नपुंसकता आदि रोग उपन्न होते है और आयुर्बल कम होता है। वैद्यक गन्थों में कहा है:—

अतिस्त्रीसम्प्रयोगाद् रक्षेदात्मानमात्मवान्।
क्रीड़ायामपि मेधावी हितार्थी परिवर्जयेत्॥ १॥

शूल-कास-ज्वर-श्वासकार्श्य-पांड्वामयक्षयाः ।
अतिव्यवायाज्जायन्ते रोगाश्चाक्षेपकादयः ॥ २ ॥

'अति स्त्री-प्रसङ्ग से अपने को बचाये रहना, सावधान रहना मनुष्य को उचित है। अपना भला चाहने वाले बुद्धिमान् पुरुषों के लिए क्रीडा में भी अति प्रसङ्ग वर्ज्य है। अति मैथुन से शूल, खांसी, ज्वर, श्वास, दुर्बलता, पीलिया, क्षय आदि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।'

तात्पर्य यह है कि अपनी स्त्री से भी अति मैथुन वर्ज्य है। अति मैथुन के साथ ही, नीतिकारों ने, असमय के मैथुन का भी निषेध किया है। दिन का समय, रात का पहला और अन्तिम पहर तथा स्त्री गर्भवती हो वह समय मैथुन के लिए निषिद्ध है। दिन में तथा रात के पहिले और अन्तिम पहर में, स्वस्त्री से किया गया मैथुन भी शरीर सम्बन्धी वे ही हानियाँ करने वाला होता है, जो हानियाँ परस्त्री-गमन से होती हैं। इसी प्रकार गर्भवती स्त्री से मैथुन करने से, गर्भ के बालक पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो माता-पिता की इस कुचेष्टा से, गर्भ मे ही बालक की मृत्यु हो जाती है। यदि बालक जन्मा भी, तो वह बचपन से ही अब्रह्मचर्य की कुचेष्टायें करने लगता है और अन्त में महाभयंकर परिणाम को प्राप्त होता है। गर्भवती स्त्री से मैथुन करने पर, वह स्त्री भी रोग-ग्रस्त हो जाती है, तथा प्रसूति रोगादि से मर भी जाती है। गर्भवती से मैथुन करने के कार्य को, यदि मनुष्य-हत्या के समान पाप कहा जावे, तब भी कोई अत्युक्ति न होगी।

गर्भवती स्व-स्त्री के समान, उस स्त्री से भी मैथुन करना वर्ज्य है, जिसका बालक छोटा हो। छोटे बालक की माँ के साथ, ऋतुकाल में मैथुन करना भी, वैद्यक और नीति के अनुसार हानिप्रद

है। ऐसी स्त्री के साथ मैथुन करने से और उस स्त्री के गर्भवती हो जाने से, उस छोटे बालक का विकास रुक जाता है और गर्भ का बालक भी कमजोर, रुग्ण एवं अल्पायुषी होता है। इसलिए छोटे बच्चे वाली स्व-स्त्री से भी मैथुन करना त्याज्य है।

८—इस समय के स्वदार-सन्तोषी

वर्तमान समय के परदार-त्यागी और स्वदार-सन्तोषी पुरुषो मे सम्भवतः ऐसे पुरुष तो गिन्ती के ही निकलेंगे, जो स्व-स्त्री सेवन मे नीतिकारों की बताई हुई मर्यादाओं का पालन करते हों। लोगो के मुँह से, एक-दो या चार-छः दिनों के लिए मैथुन का त्याग कराने की बात सुनकर, समाज की पतनावस्था पर दया आती है। उनके इस त्याग लेने की बात से यह स्पष्ट है, कि ऐसा कोई ही दिन जाता होगा जिस दिन वे मैथुन से बचे रहते हों। यद्यपि नीतिकारो ने ऋतुकाल के सिवा अन्य समय मे स्त्री-गमन का निषेध किया है और इस बात का समर्थन वैद्यक-ग्रन्थ भी करते हैं, तथा प्राकृतिक रचना पर दृष्टि-पात करने से भी यही प्रकट है, फिर भी लोग इस मर्यादा की अवहेलना करते हैं। ऐसे लोगो को मनुष्य कहने का कारण केवल उनकी शारीरिक रचना के सिवा और कुछ नहीं रहता। क्योंकि जिन नियमों का पालन बुद्धिहीन पशु भी करते है, उन नियमो का पालन, यदि बुद्धि सम्पन्न मनुष्य न करे, तो फिर उसमें पशुओ की अपेक्षा शारीरिक रचना के सिवा कौनसी विशेपता रही? पशु भी प्रायः ऋतुकाल के सिवा अन्य समय मे मैथुन नहीं करता। यदि मनुष्य होकर भी इस नियम की अवहेलना करता है, तो इससे अधिक पतन की बात और क्या होगी? स्वदार-सन्तोष-व्रत का पूर्णतया पालन तभी समझना चाहिये, जब परस्त्री को त्यागने के साथ ही, स्व-स्त्री के सेवन में भी अनियमितता न की जावे, यानी सन्तोष से काम लिया जावे।

९—एक पत्नी-व्रत

स्वदार-सन्तोष-व्रत की विशेषता तब है, जब मौजूदा पत्नी के सिवाय का त्याग कर दिया जाय, जैसा कि आनन्द श्रावक ने, अपनी शिवानन्दा स्त्री का ही आगार रखा था। व्रत धारण करने के पश्चात् और विवाह करने की इच्छा न रखी जावे। पुरुषों ने, अपने प्रभुत्व से बहुविवाह या एक स्त्री के मरने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार बढा लिया है और वर्तमान समय में एक पत्नी के मरने के बाद दूसरी पत्नी करने यानि दूसरा तीसरा विवाह करने की प्रथा चल पडी है। इससे ऐसा करना कठिन जान पड़ता है, अन्यथा प्राकृतिक रचना पर ध्यान देने एव न्याय दृष्टि से विचारने पर, यह बात स्पष्ट है कि इस विषय में पुरुष को, स्त्री से अधिक अधिकार नहीं है। चरितानुवाद के सूत्रों में ऐसा कोई उदाहरण नहीं दिखाई पडता, जो श्रावक की विद्यमान पत्नी मरने पर या विद्यमान कायम रहते हुए भी सकारण दूसरा विवाह किया हो अर्थात् जिस प्रकार स्त्रियाँ एक-पतिव्रत का पालन करती हैं, उसी प्रकार पुरुषों को भी, एक-पत्नी-व्रत का पालन करना उचित है और जिस प्रकार, विधवा होने पर भी स्त्रियाँ, दूसरे पुरुष के साथ विवाह नहीं करतीं, उसी प्रकार पुरुष को भी विधुर होने पर, दूसरी स्त्री के साथ विवाह करना उचित नहीं; किन्तु विधवाओं की तरह, विधुर को भी ब्रह्मचर्य पालना चाहिये।

१०—स्वपतिसन्तोष।

कोकिलानां स्वरो रूपं नारीरूपं पतिव्रतम्।

चाणक्य नीति।

'कोयल का रूप उसका स्वर है और स्त्री का रूप, उसका पतिव्रत है।'

सर्वविरतिब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने में असमर्थ ऐसी विवाह करने वाली स्त्रियों को विवाह करने के पश्चात् भी, स्वपति-सन्तोष-व्रत स्वीकार एवं पालन करना चाहिए। स्वपतिसन्तोषव्रत स्वीकार करने वाली स्त्रियाँ, देशविरति ब्रह्मचारिणी कहलाती हैं और व्यवहार तथा अन्य ग्रन्थकारों की दृष्टि में, ऐसी स्त्रियाँ ब्रह्मचारिणी सतियाँ भी कहाती हैं। जैसे—

या नारी पतिभक्ता स्यात्सा सदा ब्रह्मचारिणी।

सूक्ति।

'जो स्त्री, पतिभक्ता है—दूसरे पुरुष से अनुराग नहीं रखती—वह सदा ब्रह्मचारिणी कहलाती है।'

स्वपतिसन्तोषव्रत स्वीकार एवं पालन करने से, स्त्रियों को वे ही लाभ होते हैं, जो लाभ पुरुषों को स्वदारसन्तोष-व्रत से होते हैं। संसारावस्था में स्त्रियों के लिए, स्वपतिसन्तोष-व्रत के समान और कोई कार्य, इस लोक तथा परलोक में हितसाधक नहीं है। दूसरे कार्य किसी एक ही लोक का हित साधने में समर्थ हो सकते हैं, लेकिन स्वपतिसन्तोष-व्रत से दोनों ही लोक सुधरते हैं। अन्य ग्रन्थकार भी कहते हैं—

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥

मनुस्मृति।

'जो स्त्री, मन, वाणी तथा शरीर से व्यभिचार नहीं करती है, पर-पुरुष को नहीं चाहती है, वह इस लोक में सती साध्वी कही जाती है और मरने पर, स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होती है।'

११—व्यभिचार-निन्दा।

स्वपतिसन्तोषव्रत स्वीकार करने वाली स्त्री के लिए, इस लोक तथा परलोक में, कुछ भी दुर्लभ नहीं है। पतिव्रता-स्त्री की सेवा-सहायता के लिए देवता भी तत्पर रहा करते हैं। शास्त्रों में, सीता, द्रौपदी और सुभद्रा आदि सतियों का वर्णन, उनके सतीत्व के कारण ही आया है, एवं अग्नि का शीतल होना भी उनके पतिव्रत का ही प्रभाव है। इसके विपरीत जो स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हैं, उनके लिए, इस लोक और परलोक में वे ही हानियाँ हैं, जो व्यभिचारी पुरुष के लिए बताई गई हैं। अन्य ग्रन्थकारों ने भी कहा है—

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते॥

मनुस्मृति।

स्वपति-संतोषव्रत पालन करने के लिए, स्त्रियों को भी उन नियमों का पालन करना आवश्यक है, जो नियम स्वदारसंतोषव्रत लेने वाले पुरुषों के लिए बताये गये हैं। बल्कि धर्म-सहायिका होने के कारण स्त्रियों पर, अपने पति को पत्नी व्रत पर स्थिर रखने एवं नियमों का पालन कराने की जिम्मेदारी और आ पड़ती है। स्वपति-संतोष-व्रत की आराधिका स्त्री ऐसे कोई कार्य नहीं करती, जिनके करने से उसके या उसके पति के व्रत में दोष लगता हो; या व्रत से संबन्ध रखने वाले नियम भंग होते हों।

१२—व्रत-रक्षा के उपाय।

देशविरति ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, उन नियमों को आदर्श मान कर यथासम्भव उनका अनुसरण करना उचित है, जो नियम

देशविरति ब्रह्मचर्य व्रत के भगवान् महावीर ने पाँच अतिचार बताये हैं; जो इस प्रकार हैं—

सदारसंतोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा-इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अनंगकीडा, परविवाहकरणे, कामभोगतिव्वाभिलासे।

'स्वदार सन्तोषव्रत के पाँच अतिचार जानने योग्य हैं, लेकिन आचरण योग्य नहीं है। वे अतिचार ये हैं—इत्वरपरिगृहीतागमन अपरिगृहीता गमन, अनंग क्रीड़ा, पर विवाह करण, कामभोग मे तीव्र अभिलाषा।

२–पहिला अतिचार

देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत का पहिला अतिचार, इत्वरपरिगृहीता गमन है। बहुत लोग, स्वदारसन्तोषव्रत लेकर भी यह गुंजाइश निकालने लगते हैं कि हमने स्वदार का आगार रखा है, अतः यदि किसी स्त्री को कुछ समय के लिये रुपये पैसे देकर—या बिना दिये ही—अपनी बना ली जावे और उसके साथ स्वदार का-सा व्यवहार किया जावे, तो इससे स्वदारसन्तोष-व्रत में कोई दूपण नहीं आता। यद्यपि स्वदार-सन्तोपव्रत मे, केवल स्वदार—यानी जिसके साथ, देश और समाज प्रचलित रीति से विवाह हुआ है, उसी का आगार रहता है, फिर भी कई लोग उक्त प्रकार की गुंजाइश निकालने लगते हैं। लेकिन इस प्रकार की गुंजाइश निकाल कर, जो अपनी नहीं है, उस स्त्री को, थोड़े समय के लिए अपनी बनाकर, उसके साथ मैथुन करने के लिए तैयार हो जाना, अतिचार है। ऐसा करना, जब तक अतिचार के रूप में है, तब तक तो व्रत में दूपण ही लगता है—व्रत नष्ट नहीं होता, लेकिन इस प्रकार का कार्य अनाचार के रूप में होने

पर यानी मैथुन क्रिया रूप में हो जाने पर व्रत नष्ट हो जाता है। इस अतिचार का दूसरा अर्थ यह भी है कि अपनी स्त्री भी जो अल्पवयस्का है, भोग योग्य नहीं है, ऐसी स्त्री से सम्भोग करना अनाचार तो नहीं, किन्तु अतिचार अवश्य है। कारण ऐसा कार्य बलात् किया जाता है, बाल-विवाह से ऐसा होता है।

४—दूसरा अतिचार।

दूसरा अतिचार अपरिगृहीता गमन है। परदार से निवतने वाले बहुत से लोग, परदार-त्याग का यह अर्थ लगाते हैं, कि जो स्त्री दूसरे की है, जिसका स्वामी कोई दूसरा पुरुष है, उस स्त्री से मैथुन करने का हमने त्याग लिया है, लेकिन जो स्त्री किसी दूसरे की है ही नहीं, जिसका कोई नियत पति ही नहीं है-जैसे वेश्या-या जिसका विवाह ही नहीं हुआ या विवाह तो हुआ है, लेकिन अब वह पतिविहीना है--जैसे विधवा या परित्यक्ता--ऐसी स्त्री के साथ मैथुन करने से लिये हुए त्याग में कोई दूषण नहीं होता। यद्यपि, पर-स्त्री के त्याग मे उन सभी स्त्रियों का त्याग हो जाता है, जो अपनी नहीं हैं, फिर भी कई लोग इस प्रकार गुञ्जाइश निकालने लगते हैं। लेकिन इस प्रकार की गुञ्जाइश निकाल कर, जो स्त्री अपनी नहीं है, उस स्त्री से मैथुन करने के लिए तैयार हो जाना, त्याग की प्रतिज्ञा को दूषित करना है। अतिचार की सीमा तक—यानी मैथुन करने की तैयारी तक-तो त्याग की प्रतिज्ञा दूषित ही होती है, लेकिन अतिचार की सीमा का उल्लंघन होते ही—अनाचार होने पर--लिया हुआ व्रत नष्ट हो जाता है। इस अतिचार का दूसरा अर्थ यह है कि जिस कन्या के साथ सम्बन्ध तो हो गया है, परन्तु पञ्च-साक्षी से विवाह नहीं हुआ है, ऐसी स्त्री (कन्या) के सम्भोग करना अतिचार है, क्योंकि अपनी होते हुए भी वह अपरिगृहीता है।

३—वेश्या-गमन से हानि।

कई लोग कहते हैं, कि वेश्या तो किसी की स्त्री नहीं है, इस कारण वेश्या-सम्भोग से व्रत नष्ट नहीं होता। ऐसा कहने और समझने वाले लोग, लिए हुए व्रत और त्याग के रहस्य से ही अनभिज्ञ हैं। स्वदारसन्तोषव्रत और परदार-विरमण, स्त्री-भोग की लालसा को सीमित करने, शनैः शनैः उसे कम करने के लिए हैं। लेकिन वेश्या-सम्भोग, पर-स्त्री सम्भोग से भी अधिक हानिप्रद है। वेश्या-सम्भोग से, दुर्विषय-लालसा में ऐसी भयंकर वृद्धि होती है, कि जिसका वर्णन करना, शक्ति से परे की बात है। वेश्या-गामी पुरुष-दुर्विषय-लालसा मे वृद्धि होने के कारण वेश्या के पीछे अपना सब कुछ खो बैठता है। वेश्या के पीछे, बड़े-बड़े धनिको को—अपना धन-वैभव खोकर भीख मांगनी पड़ी है। बड़े-बड़े परिवार वाले, वेश्या के कारण निःसहाय हो जाते हैं। बड़े-बड़े बलवान, वेश्या-संग से बलहीन हो जाते हैं। इतना होने पर भी जिस वेश्या के पीछे यह सब होता है, वह वेश्या किसी भी पुरुष की नहीं होती। वेश्यागामी पुरुष, इस लोक मे निन्दित और परलोक में दण्डित होता है। बड़े अनुभव के पश्चात् भर्तृहरि कहते हैं—

वेश्याऽसौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च॥

'वेश्या, कामाग्नि की ज्वाला होती है जो रूप-ईन्धन से सजी रहती है; कामी लोग, इस रूप-ईन्धन से सजी हुई वेश्या नाम्नी कामाग्नि की ज्वाला में, अपने यौवन और धन की आहुति देते हैं।'

तात्पर्य यह कि वेश्या-गमन भयंकर पाप है। वेश्यागामी-पुरुष का अन्तःकरण इतना कलुषित हो जाता है कि वह अपने कुटुम्ब की

स्त्रियों पर कुदृष्टि डालने में, तथा मनुष्य-हत्या एवं आत्म-हत्या करने में भी नहीं हिचकिचाता।

तीसरा अतिचार

तीसरा अतिचार अनंगक्रीड़ा है। काम-सेवन के लिए प्राकृतिक जो अंग हैं, उनके सिवा शेप सब अंग, काम-सेवन के लिए अनंग हैं, जो अंग काम-सेवन के लिए अनंग हैं, उनसे काम-क्रीड़ा करना, अनंग-क्रीड़ा कहलाती है। जैसे गुदा-मैथुन, हस्त-मैथुन, मुख-मैथुन, कर्ण-मैथुन, कुचमर्दन, चुम्बन आदि। इन सब मैथुनों की विशेष व्याख्या न करके इतना ही कहा जाता है कि स्व-स्त्री से भी ऐसा मैथुन करने से, व्रत में दूषण लगता है। इसलिये व्रतधारी को इस अतिचार से बचना चाहिये।

चौथा अतिचार।

चौथा अतिचार, पर-विवाह-करण है। आनन्द श्रावक की तरह अपनी स्त्री का नाम लेकर स्वदार-सन्तोष व्रत स्वीकार करने वाला केवल अपनी उसी स्त्री पर सन्तोष करने की प्रतिज्ञा करता है, जो प्रतिज्ञा करने के समय मौजूद है और जिसके साथ देश और समाज मे प्रचलित रीति से विवाह हो चुका है। ऐसा होने पर भी कई लोग यह गुंजायश निकालने लगते है, कि हमने स्व-स्त्रीसन्तोष-व्रत लिया है। इसलिए यदि किसी अविवाहित स्त्री से विवाह करके उसे अपनी ही बना ले, तो कोई हर्ज नहीं। ऐसा करने से हमारे व्रत में दूषण न लगेगा। वास्तव में ऐसा करना प्रतिज्ञा-विरुद्ध है। जब तक यह कार्य अतिचार की सीमा तक है, तब तक तो व्रत में दूषण ही लगता है, लेकिन अनाचार के रूप मे होने पर व्रत नष्ट हो जाता है। यह बात दूसरी है कि कोई अपनी इच्छानुसार व्रत ले, लेकिन आनन्द की तरह स्वदार-सन्तोष-व्रत लेने पर पुनः विवाह करने का अधिकार

नहीं रहता। इस व्याख्या के विषय में आचार्य हरिभद्रसूरिजी कृत 'धर्मविन्दु' प्रमाण है।

इस अतिचार का एक अर्थ, दूसरे का विवाह करना-कराना भी है। बहुत लोग धर्म या पुण्य समझ कर, दूसरे लोगों का विवाह करने-कराने लगते हैं, लेकिन व्रतधारी के लिए, ऐसा करना निषिद्ध है। ऐसा करने से उसका व्रत दूषित होता है।

पाँचवाँ अतिचार

पाँचवाँ अतिचार काम-भोग की तीव्र अभिलाषा है। स्वदार सन्तोष-व्रत, काम-भोग की अभिलाषा को मन्द करने के लिए ही लिया जाता है और इसीलिये इसके नाम में 'सन्तोष' शब्द लगा हुआ है। ऐसा होते हुए भी कई लोग, काम-भोग की अभिलाषा को तीव्र करने की चेष्टा करते हैं; यानी बाजीकरण आदि औषधियों का सेवन करते हैं, या कामोद्दीपन की चेष्टा करते हैं और समझते हैं, कि इसमें हमारे व्रत को कोई हानि नहीं पहुँचती। लेकिन ऐसा करने से स्वदार के सेवन में सन्तोष नहीं रहता, किन्तु असन्तोष बढ़ जाता है। इसलिए व्रतधारी को, काम-भोग की अभिलाषा तीव्र करने का उपाय न करना चाहिए। ऐसा न करने से व्रत में अतिचार होता है और व्रत दूषित हो जाता है।

इन अतिचारों को जान कर इनसे बचना, देशविरति ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है।

उपसंहार ।

पूर्ण ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल शारीरिक संयम ही नहीं है किन्तु, सभी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मन, वचन, काय द्वारा काम-भाव से सर्वथा मुक्ति है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन, असम्भव या अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु सम्भव और स्वाभाविक है। यद्यपि पूर्ण ब्रह्मचर्य का सर्वांश में पालन तो गृह-त्यागी साधु ही कर सकते है, लेकिन आंशिक-रूप में गृहस्थ भी पाल सकता है और शरीर के विकास के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक भी है। इसके लिए दृढ़ता की आवश्यकता अवश्य है। जिसमें दृढ़ता नहीं है, जो इन्द्रियों के किंचित् प्रकोप के सामने ही झुक जाता है, वह ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। क्योंकि, इन्द्रियो के सामने थोड़ा भी झुक जाने पर, इन्द्रियों का बल बढ़ता जाता है, वे अपना आधिपत्य जमाती जाती हैं और फिर ब्रह्मचर्य से ही दूर नहीं फैंक देतीं, किन्तु दुराचार के गड्ढे में ही डाल देती हैं।

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य स्वाभाविक है, उसी प्रकार दुर्विषय-भोग अस्वाभाविक भी है; जिसकी इच्छा होना प्रायः बुरे तौर पर किये गये

लालन-पालन का फल है। गांधीजी के शब्दों में, 'माताएँ और दूसरे सम्बन्धी अबोध बच्चों को यह सिखलाना धार्मिक-कर्त्तव्य-सा मान बैठते हैं, कि इतनी उम्र होने पर तुम्हारा विवाह होगा। बच्चे के भोजन और कपड़े भी, बच्चे को उत्तेजित करते हैं। बच्चों को सैंकड़ों तरह की गर्म और उत्तेजक चीजें खाने को देते हैं; अपने अन्ध-प्रेम में, उनकी शक्ति की कोई परवाह नहीं करते। इस प्रकार माता-पिता स्वयं विकारों के सागर में डूब कर, अपने लड़कों के लिए बे-लगाम स्वच्छन्दता के आदर्श बन जाते हैं।' गांधीजी का यह कथन, अधिकांश में ठीक है और इस प्रकार का पालन-पोषण ही विषयेच्छा उत्पन्न करने का कारण है।

दुर्विषय-भोग, उसी प्रकार अस्वाभाविक और ब्रह्मचर्य उसी प्रकार स्वाभाविक है, जिस प्रकार असत्य, अस्वाभाविक और सत्य, स्वाभाविक है। यदि किसी बालक के सामने, असत्य का वातावरण न आने दिया जावे, तो वह बालक 'असत्य' किसे कहते हैं, यह भी न जानेगा, न असत्य का उपयोग ही करेगा। ठीक इसी प्रकार, यदि किसी बालक के सामने दुर्विषय-भोग सम्बन्धी कोई बात न की जावे, काम-भोग का कोई आचरण न किया जावे, तो सम्भवतः उसमें उस प्रकार की दुर्विषयेच्छा उत्पन्न ही न होगी, जैसी कि इससे विपरीतावस्था में उत्पन्न हो सकती है। बच्चों के सामने, किसी कुकृत्य को यह समझ कर करना, कि ये बच्चे क्या जानें, भूल है। बच्चों पर, प्रत्येक अच्छी या बुरी बात का स्थायी प्रभाव पड़ता है। इनके हृदयरूपी कोरे चित्रपट पर, प्रत्येक बात इस प्रकार अङ्कित हो जाती है, जो मिटाने से मिट नहीं सकती। वास्तव में, यह समझना ही भूल है, कि हमारे किसी कार्य को दूसरा नहीं देखता या हमारे कार्य का अच्छा-बुरा प्रभाव, दूसरे पर नहीं पड़ सकता। गुप्त से गुप्त कार्य और विचारों का प्रभाव भी, इतना गहरा और इतनी दूर तक पड़ता है कि जिसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

यद्यपि, पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श तक सभी लोग नहीं पहुँच सकते, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के सामने इस आदर्श का होना आवश्यक है। जिसकी मानसिक आँखों के सामने यह आदर्श नहीं है, वह पतित से भी पतित हो जाता है। वह दुर्विषय वासना की लगाम को काबू में नहीं रखता, किन्तु उसका गुलाम हो जाता है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य से नीचा आदर्श, एक पत्नीव्रत और एक पति-व्रत है। जो लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श की ओर, सहसा गति करने में अपने आपको असमर्थ देखते हैं—मार्ग में पतित होने का भय है—उनके लिए, यह दूसरा नीचे से नीचा आदर्श है। यह आदर्श, कमजोर लोगों के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुँचने के मार्ग में—एक विश्रान्तिस्थल है। इससे नीचा कोई आदर्श नहीं है, न इससे नीची अवस्था वाला, ब्रह्मचर्य के मार्ग का पथिक ही माना जा सकता है।

विवाह-दुर्विषयेच्छा मिटाने की दवा है, न कि दुर्विषयेच्छा की तृप्ति का साधन। दुर्विषयेच्छा की तृप्ति तो कभी हो ही नहीं सकती। उसकी तृप्ति के लिए, जैसे-जैसे उपाय किया जावेगा, वह वैसे ही वैसे बढ़ती जावेगी। दुर्विषयेच्छा-पूर्ति की प्रत्येक चेष्टा, दुर्विषयों का अधिकाधिक गुलाम बनाती है।

विशेषतः विवाह करने का कारण, सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा है, अतः इस अभिलाषा के पूरी हो जाने पर, दुर्विषय-भोग का त्याग कर देना ही उचित है। इसी प्रकार बढ़ती हुई सन्तान को रोकने के लिए भी, मैथुन का ही त्याग करना चाहिये, कृत्रिम उपायों का अवलम्बन लेना ठीक नहीं। सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपाय, अनीति और पापाचार को बढ़ाने वाले तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानि-प्रद हैं।

देशविरति-ब्रह्मचर्य-व्रत की रक्षा के लिए, स्त्री को पुरुष की और पुरुष को स्त्री की सहायता करना, उचित एवं आवश्यक है। यदि किसी समय पुरुष में व्रत या उसकी मर्यादा भंग करने की बुरी इच्छा हो, तो पत्नी का कर्त्तव्य है, कि वह प्रत्येक सम्भव उपाय से अपने पति को ऐसा करने से बचावे। इसी प्रकार, यदि किसी समय स्त्री में ऐसी कुभावना हो, तो पति का भी यही कर्त्तव्य है। इस प्रकार एक दूसरे की सहायता एवं एक दूसरे को सावधान करते रहने से, पति-पत्नी दोनों का व्रत निर्मल पलेगा और कभी न कभी पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श तक पहुँच कर अपना कल्याण कर सकेंगे।

परिग्रहपरिमाण व्रत ।

विषय-प्रवेश ।

दुःख का मूल कारण तृष्णा है। चिउंटी से लगाकर चक्रवर्ती पर्यन्त सभी जीव तृष्णा के पीछे-पीछे दौड लगा रहे हैं। खेद की बात यह है कि इस दौड़ का कहीं अन्त नहीं है, कहीं विराम नहीं है, तृष्णा की मंजिल कभी तय हो नहीं पाती। उसका तय होना संभव भी नहीं है, क्योकि लक्ष्य स्थिर नहीं है। पहले निश्चित किये हुये लक्ष्य पर पहुँचने को हुए कि लक्ष्य बदल कर आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार संसार मे दौड़-धूप मची रहती है। मनुष्य पहले विवाह करके सुख की आकांक्षा करता है-विवाह कर लेना उसका लक्ष्य होता है। परन्तु विवाह होते ही सन्तान की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। कदाचित् सन्तान होगई तब भी तृष्णा का अन्त कहाँ? वह और आगे बढ़ती है—संतान के विवाह की इच्छा पैदा करती है। इसके बाद मनुष्य को पौत्र चाहिए, प्रपौत्र चाहिए, और न जाने क्या-क्या चाहिए। इस चाहिए के चंगुल में फँस कर मनुष्य बेतहाशा भाग-दौड लगा रहा है। कभी किसी क्षण शांति नहीं, सन्तोष नहीं और निराकुलता नहीं। भला इस दौड़-धूप में सुख कैसे मिल सकता

है ? यह संसार की व्याकुलता का कारण है। इसी तृष्णा से दुःख शोक और संताप की उत्पत्ति होती है।

ज्ञानी जन तृष्णा के पीछे नहीं दौड़ते। उन्होने समझ लिया है कि अगर कोई अपनी परछाई पकड़ सकता है तो तृष्णा की पूर्ति कर सकता है। मगर अपनी परछाई के पीछे कोई कितना ही दौड़े वह आगे आगे दौड़ती रहेगी, पकड में नहीं आवेगी। इसी प्रकार तृष्णा की पूर्ति के लिए कोई कितना ही उपाय करे मगर वह पूरी नहीं होगी। ज्यों-ज्यों परछाई के पीछे दौड़ने का प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों वह आगे बढ़ती जाती है। मगर मनुष्य जब उससे विमुख हो जाता है, तब वह लौटकर उसका पीछा करने लगती है। इस प्रकार परछाई के पीछे दौडकर अपनी शक्ति का नाश करना व्यर्थ है और तृष्णा की पूर्ति करने के लिए मुसीबत उठाना भी वृथा है।

ज्ञानी जन भलिभाँति जानते हैं कि माया का मालिक होना और बात है और गुलाम होना और वात है। माया का गुलाम माया के लिए झूठ बोल सकता है, मगर माया का मालिक ऐसा नहीं करेगा। अगर न्याय नीति के अनुसार माया रहे तो वह उसे रक्खेगा, अगर वह अन्याय के साथ रहना चाहेगी तो उसे निकाल बाहर करेगा। यही बात अन्य सांसारिक सुख-सामग्री के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

ज्ञानी पुरुषों ने तृष्णातुर और धनलोलुप जनों को चेतावनी देते हुए कहा है:—

तुम समझते हो हमने तिजोरी मे धन को कैद कर लिया है, पर धन समझता है कि हमने इतने बड़े धनी को अपना पहरेदार मुकर्रर कर लिया है।

तुम अपनी कृपणता के कारण धन का व्यय नहीं कर सकते पर धन तुम्हारे प्राणों का भी व्यय कर सकता है।

तुम धन को चाहे जितना प्रेम करो, प्राणों से भी अधिक उसकी रक्षा करो, उसके लिये भले ही जान दे दो, लेकिन धन अन्त में तुम्हारा नहीं रहेगा—नहीं रहेगा। वह दूसरों का बन जायगा।

तुम धन का त्याग न करोगे तो धन तुम्हारा त्याग कर देगा। यह सत्य इतना स्पष्ट और ध्रुव है कि इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में विवेकवान् होते हुए भी इतने पामर क्यों बने जा रहे हो? तुम्हीं त्याग की पहल क्यों नहीं करते? क्यों स्वत्व के धागे को तोड कर फेंक नहीं देते। स्वत्व को त्याग देने का अर्थ यह नहीं है कि तुम उसे फेंक दो। इसका अर्थ यही है कि उसे सार्वजनिक कामों में लगाओ।

अगर आप लोग भी अपनी सम्पत्ति से पाप न करके, उसके ट्रस्टीभर बने रहो तो क्या उस सम्पत्ति को कुछ दाग लग जायगा? हाँ, उस अवस्था में अपने भोग-विलास के लिए उसका दुरुपयोग न कर सकोगे। लेकिन बहुत लोगों की तो ट्रस्टी बनने की भावना ही नहीं होती। क्या श्रावक की जिन्दगी ऐसी होती है कि वह धन के कीचड़ में फँसा रहे और उसमें आत्मा को मलीन बना डाले? उसे परोपकार में न लगावे? क्या श्रावक को धर्म पर विश्वास नहीं है? बैंक पर विश्वास करके उसमें लाखों रुपया जमा करा देने वालों को धर्म रूपी बैंक पर क्या विश्वास नहीं है?

मैं आपका धन नहीं चाहता। मेरे पास जो कुछ था उसका त्याग कर देना मैंने अपना सौभाग्य समझा है। उससे मुझे शान्ति और सुख मिला है। ऐसा करके मैंने निराकुलता का आनन्द अनु-

भव किया है। तुम्हे जो त्याग का उपदेश करता हूँ तो इसीलिए कि तुम सुखशान्ति का इसी उपाय से लाभ कर सकोगे। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य यही है कि वह अपनी सम्पत्ति परोपकार के लिए समझे और आप उससे अलहदा रहता हुआ अपने को उसका ट्रस्टी अनुभव करे।

मित्रो ! आप लोगों के पास जो द्रव्य है उसे अगर परोपकार में, सार्वजनिक हित में और दीन-दुखियों को साता पहुँचाने में न लगाया तो याद रखना, इसका व्याज चुकाना भी कठिन हो जायगा। ऐसे द्रव्य के स्वामी बनकर आप फूले न समाते होंगे कि चलो हमारा द्रव्य बढ़ गया है, मगर शास्त्र कहता है और अनुभव उसका समर्थन करता है कि द्रव्य के साथ क्लेश बढ़ा है। जब आप बैंक से ऋण रूप में रुपया लेते हैं तो उसे चुकाने की कितनी चिन्ता रहती है ? उतनी ही चिन्ता पुण्य रूपी बैंक से प्राप्त द्रव्य को चुकाने की क्यों नहीं करते ? समझ रक्खो, यह सम्पत्ति तुम्हारी नहीं है। इसे परोपकार के अर्थ अर्पण करदो। याद रखो कि यह जोखिम दूसरे की मेरे पास धरोहर है। अगर इसे अपने पास रख छोड़ूँगा तो यह तो यहीं रह जायगी, लेकिन इसका बदला चुकाना मेरे लिए बहुत भारी पड़ जायगा।

कनक और कामिनी की लोलुपता ने संसार को नरक बना डाला है। आजकल मुद्रा-देवी ने-सोने, चाँदी तांबे आदि के सिक्कों ने कितनी अशांति फैला रक्खी है ! तुम लोग रात-दिन पैसे के लिए दौड़-धूप करते रहते हो मगर पैसे का संग्रह करके भी सुख की साँस नहीं ले सकते। पैसे के लिए आपस में लड़ाई-झगड़े होते हैं, हजारों मनुष्यों का खून बहाया जाता है। इसका बाहरी कारण कुछ भी बताया जाय, पर असली कारण तो द्रव्य के संग्रह की भावना ही है। इतिहास स्पष्ट बतला रहा है कि जब से मानव समाज में संग्रह परायणता जागी है तब से संसार की दयनीय दशा आरम्भ हुई है।

धन व्यावहारिक कार्यों का एक साधन है। धन से व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। पर आज तो लोगों ने इस साधन को साध्य समझ लिया है और वे इसकी प्राप्ति में सारा जीवन व्यय कर रहे हैं। तुम इस बात का विचार करो कि धन तुम्हारे लिए है या तुम धन के लिए हो? कहने को तुम कह दोगे कि हम धन के लिए नहीं हैं। धन हमारे लिए है। पर क्या व्यवहार में भी यही बात है?

सर्वप्रथम तुम अपने को समझो। विचार करो कि तुम कौन हो? तत्पश्चात् इस बात को सोचो कि धन किसके लिए है? तुम रक्त, मांस या हड्डी नहीं हो। यह सब चीजें शरीर हैं और शरीर के साथ ही भस्म होने वाली हैं। अतएव धन रक्त-मांस आदि के लिए नहीं, आत्मा के लिए है। इस बात को भलीभाँति समझ कर आत्मा को धन का गुलाम मत बनाओ। जो सत्य को समझ लेगा वह धन का दास नहीं बनेगा, स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नहीं, साधन मात्र समझेगा। वह धन के लिए जीवन बर्बाद नहीं करेगा किन्तु जीवन के उत्कर्षसाधन में धन को भी निमित्त बनाएगा।

अगर तुम्हें प्रतीति है कि धन तुम्हारे लिए है, धन के लिए तुम नहीं हो तो, धन के लिए कभी पाप तो नहीं करते?

असत्य भाषण करना, विश्वासघात करना, पिता-पुत्र के बीच क्लेश होना, यह सब किसलिए है? इन सब बुराइयों का मूल कौन है? धन के ही लिए संसार में घोर क्लेश हो रहे हैं, पापाचरण हो रहे हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि लोगों ने धन को साधन नहीं, साध्य मान लिया है और वह आत्मा से भी अधिक आत्मीय बन गया है। लोगों के इस भ्रम के कारण ही संसार में दुःख व्याप रहा है। धन को साधन मानकर लोकहित के कार्यों में व्यय करना, धन का सदुपयोग है।

धन के सद्व्यय के लिए हृदय में उदारता चाहिए। जहाँ हृदय मे उदारता नहीं वहाँ धन का सद्व्यथ नही हो सकता। धन के प्रति हृदय में ममता रहती है, उसका त्याग करने में ही आत्मा का कल्याण है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।

प्रमादी पुरुष धन से त्राण-रक्षण नहीं पा सकता। धन किसी को मौत से नहीं बचा सकता। वह दुखों का सर्जन करता है।

धन को साधन मानकर, उसके प्रति निर्मम बनना, उसे आत्मा को न ग्रसने देना, इतनी महत्त्व की बात है कि उसके बिना जीवन का अभ्युदय सिद्ध नही हो सकता।

'यह मेरा है, वह तेरा है, मुझे यह करना है, यह नहीं करना है' इस प्रकार की घटना संसार में अनवरत रूप से दिनरात चलती रहती है। जीवन छोटा है, काम बहुत हैं। ऐसी अवस्था में कोई भी व्यक्ति अपना काम पूरा नहीं कर सकता। किसी व्यक्ति ने अपनी इच्छा-नुसार संसार के सब काम कर लिए हो और वह कृतकृत्य हो गया हो, ऐसा आज तक कभी हुआ नहीं, हो सकता भी नहीं। मैंने अमुक कार्य किया है और अमुक कार्य करूँगा, इस प्रकार की लालसा जीव के साथ सदैव चिपटी रहती है। यह लालसा कभी पूरी नहीं हो सकती। कंठ के आभूषण तैयार हुए न हुए कि हाथ के आभूषणों की चर्चा होती है। हाथ के आभूषण तैयार होते ही पैर के आभूषणों की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार लालसा का कहीं अन्त नहीं। चांदी के बन गये तो सोने के आभूषणों की कमी रहती है। यदि भाग्यवश सोने के भी बन गये तो हीरा-माणिक के आभूषणों की इच्छा बलवती हो उठती है। इस प्रकार तृष्णा आकाश के

समान असीम है। उस तृष्णा को सीमित कर लेना ही परिग्रह परिमाणव्रत है।

परिग्रह की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है—'परिग्रहणं-परिग्रहः। अर्थात्, जिसे ग्रहण किया जाय, वह 'परिग्रह' है। ग्रहण उसे ही किया जाता है, जिससे ममत्व है। जिससे किसी प्रकार का ममत्व नहीं है, उस वस्तु को ग्रहण नहीं किया जाता, न पास ही रखा जाता है। इस प्रकार जिसको ममत्व भाव से ग्रहण किया जाता है, वही 'परिग्रह' है।

परिग्रह का अर्थ ममत्व भाव है, इसलिए जिनसे ममत्व-भाव है, वे समस्त वस्तुएँ परिग्रह में हैं। जिसके प्रति ममत्व-भाव होने से जन्म-मरण की वृद्धि होती है, जो आत्मा को उन्नत होने से रोकता है और जो मोक्ष मे बाधक है वही पदार्थ परिग्रह है। फिर चाहे वह पदार्थ जड हो, चेतन हो, रूपी हो, अरूपी हो, और समस्त लोक जितना बड़ा हो, अथवा परमाणु जैसा छोटा हो। जो क्रोध मान माया लोभ का उत्पादक है, वही परिग्रह है। शास्त्रकारों का कथन है कि ज्ञान, संसारबन्धन से मुक्त करने वाला है, लेकिन यदि उसके कारण किंचित् भी अभिमान उत्पन्न हुआ है, तो वह ज्ञान भी परिग्रह है। धर्मपालन के लिए शरीर का होना आवश्यक है, परन्तु यदि शरीर पर थोड़ा भी ममत्व है, तो शरीर परिग्रह है। इस प्रकार जिसके प्रति ममत्व-भाव है, जिससे काम, क्रोध, लोभ या मोह का जन्म हुआ है, वह परिग्रह है। परिग्रह आत्मा के लिए वह बन्धन है, जिसमें आत्मा पुनः पुनः जन्म-मरण करता है। परिग्रह आत्मा के लिए वह बोझ है, जो आत्मा को उन्नत नहीं होने देता और मोक्ष की ओर नहीं जाने देता।

१—परिग्रह के भेद ।

शास्त्रकारो ने परिग्रह के 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' ऐसे दो भेद किये हैं। उन्होंने आभ्यन्तर परिग्रह मे मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय आदि को माना है। जिनकी उत्पत्ति मुख्यत' मन से है, और जिनका निवासस्थान भी मन ही है, अर्थात् जो मन अथवा हृदय से ही सम्बन्ध रखते हैं और विचार रूप हैं, उन सब की गणना आभ्यन्तर परिग्रह मे है। बाह्य परिग्रह के भी दो भेद किये गये हैं,– 'जड़' और 'चेतन'। जड़ मे वे समस्त पदार्थ आ जाते हैं, जिनमे ज्ञान नहीं है, जो निर्जीव हैं। जैसे—वस्त्र, पात्र, चाँदी, सोना, सिक्का मकान आदि। चेतन में मनुष्य, पशु-पक्षी, पृथ्वी, वृक्ष आदि समस्त सजीव पदार्थों का ग्रहण हो जाता है। यह संसार, जड़ और चेतन के सयोग से ही है। संसार में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह या तो जड़ है या चेतन है। इसलिए जड़ और चेतन भेद में संसार के समस्त पदार्थ आ जाते हैं।

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान् ने, कर्म, शरीर और भण्डोपकरण ये तीनो परिग्रह बताये हैं। ये तीनो परिग्रह भी, बाह्य और आभ्यन्तर भेदों में आ जाते हैं इसलिए इनके विषय मे पृथक् कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती। भगवान् ने ये तीन परिग्रह सम्भवतः साधु के लिए बताये हैं। अर्थात् इस दृष्टि से बताये है कि साधु के साथ भी ये तीन परिग्रह लगे हुए हैं और जब तक साधु इन तीनों से नहीं निवर्तता, तब तक उसे मोक्ष नही मिल सकता। जो भी हो, यहाँ तो परिग्रह के भेद बताने हैं।

इस भेद-वर्णन का यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ ही परिग्रह है। पदार्थ परिग्रह नहीं है, किन्तु उसके प्रति जो ममत्व भाव है वह ममत्व-भाव ही परिग्रह है और इस कारण जिस पदार्थ के प्रति

ममत्व-भाव है, औपचारिक नय से वह पदार्थ भी परिग्रह माना जाता है। क्योंकि ममत्व-भाव पदार्थ पर ही होता है, इसलिए ममत्व भाव होने पर ही पदार्थ 'परिग्रह' है, लेकिन उस समय तक कोई भी पदार्थ परिग्रह रूप नहीं है, जब तक कि स्वयं में उसके प्रति ममत्व-भाव नहीं है। पदार्थ के प्रति ममत्व-भाव होने पर ही पदार्थ परिग्रह होता है।

संसार मे अनेक प्राणी हैं। सब प्राणियों की रुचि एक समान नहीं किन्तु अलग-अलग होती है। एक ही योनि के प्राणियो की रुचि मे भिन्नता रहती है, तब अनेक योनियो के प्राणियो की रुचि मे भिन्नता होना स्वाभाविक ही है। इसलिए समस्त प्राणियो को किसी एक ही पदार्थ से ममत्व नहीं, किन्तु किसी प्राणी को किसी पदार्थ से ममत्व होता है, और किसी को किसी पदार्थ से। यह बात दूसरी है कि एक ही पदार्थ से अनेक प्राणी ममत्व करते हो, परन्तु सब प्राणियो का ममत्व किसी एक ही पदार्थ तक सीमित नहीं रहता। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न एक या अनेक पदार्थ से ममत्व होता है। जिस वस्तु से नरक के जीव ममत्व करते हैं, स्वर्ग के जीव उससे भिन्न या विपरीत वस्तु से ममत्व करते हैं। यही बात अन्य योनि के जीवो के लिए भी है। किस योनि के जीवो को किन पदार्थों से ममत्व होता है, सब प्राणियों के विषय में यह बताना कठिन भी है और अनावश्यक भी है। यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है, वह मनुष्यों के लिए ही है। अत. केवल मनुष्यों के विषय में इस बात का विचार किया जाता है कि मनुष्यो को किन-किन पदार्थों से ममत्व होता है।

२—आभ्यन्तर परिग्रह।

मनुष्य, बाह्य परिग्रह-युक्त भी होता है, और आभ्यन्तर परिग्रह-युक्त भी। अर्थात् उसको मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय आदि

आभ्यन्तर विचार रूप पदार्थों से भी ममत्व होता है और बाह्य दृश्यमान-जड़ तथा चेतन पदार्थों से भी। आभ्यन्तर परिग्रह के अन्तर्गत कहे गये मिथ्यात्व अविरति कषाय आदि का स्वरूप शास्त्रों में विस्तृत रीति से बताया गया है। यदि इनके स्वरूप और भेदोपभेद का पूर्ण विवरण यहाँ किया जाय, तो विषय बहुत बढ़ जायेगा। इसलिए इस विषय का वर्णन संक्षेप में ही किया जाता है।

मिथ्यात्व–जिस मोहनीय कर्म के उदय होने पर आत्मा, आत्म-भाव को विस्मृत कर परभाव यानी पौद्गलिक भाव में ही रमण करे, या प्रकट में तत्वो की यथार्थ व्याख्या करके भी हृदय में विपरीत विचार रखे, वीतराग के वाक्यों को न्यूनाधिक रूप में श्रद्धे, और अनेकान्त-स्याद्वादमय सिद्धान्त को एकान्तवाद का रूप दे, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व भी परिग्रह है।

तीन वेद—आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर जिस विकृत अवस्था के प्रवाह में बहे और स्त्रीत्व पुरुपत्व या नपुंसकता को वेदे, उस अवस्था का नाम वेद है। यह तीन प्रकार का वेद भी आभ्यन्तर परिग्रह मे है।

छ. नोकषाय—हास्यादिक छः अवस्थाएँ भी आभ्यन्तर परिग्रह में हैं। किसी के संयोग वियोग का या पौद्गलिक लाभ हानि से कौतूहल पैदा होना, हास्य कहलाता है। किसी शुभ पदार्थ के संयोग से हर्प या अशुभ पदार्थ के संयोग से विषाद करना, रति अरति कहलाता है। किसी अप्रिय पदार्थ को देखकर डरना भय कहलाता है। किसी प्रिय पदार्थ के वियोग से दुःखित होना शोक कहलाता है। प्रतिकूल तथा अरुचिकर पदार्थ से घृणा होना दुगुंछा (जुगुप्सा) कहलाता है। ये छह भी आभ्यन्तर परिग्रह में हैं।

चार कपाय—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय भी आभ्यन्तर परिग्रह में हैं।

३—बाह्य परिग्रह

बाह्य परिग्रह के प्रधानतः जड और चेतन ऐसे दो भेद हैं। सुविधा की दृष्टि से शास्त्रकारो ने बाह्य परिग्रह के दो भेदो को छः भागो मे विभक्त कर दिया है। उनका कथन है कि जितना भी बाह्य परिग्रह है अर्थात् दृश्यमान जगत् के जिन पदार्थों से आत्मा को ममत्व होता है उन सब पदार्थों को छः श्रेणी में बांटा जा सकता है। वे छः श्रेणी इस प्रकार हैं धन--धान्य क्षेत्र वास्तु द्विपद और चौपद। इन छः श्रेणियो में प्रायः समस्त पदार्थ आ जाते हैं। यदि चाहो, तो इन छः भेदों को भी कनक और कामिनी इन दो भेदों में लाया जा सकता है। जड़ और चेतन पदार्थों में से किन्हीं उन दो पदार्थों को, जिनके प्रति सबसे अधिक ममत्व होता है, पकड़ लेने से दूसरे समस्त पदार्थ भी उनके अन्तर्गत आ जायेंगे। विचार करने पर मालूम होगा, कि मनुष्यों को बाह्य पदार्थों में सबसे अधिक ममत्व कनक और कामिनी से होता है। कनक-अर्थात् सोना—के अन्तर्गत समस्त जड़ पदार्थ आ जाते हैं। क्योंकि, बाह्य पदार्थों में मनुष्य को इन दोनों से अधिक किसी पदार्थ से ममत्व नहीं होता। उत्तराध्ययन सूत्र में गौतम स्वामी को उपदेश देते हुए भगवान् महावीर ने भी कहा है—

चिच्चाणं धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए, समयं गोयम मा पमायए॥

अर्थात्—हे गौतम, जिस धन और स्त्री को त्याग कर, अनगार हुआ है, उसके जाल में पुनः मत पड़ना और इस ओर समय मात्र का भी प्रमाद मत करना।

परिग्रह के आभ्यान्तर और बाह्य भेदो का वर्णन संक्षेप में किया जा चुका। अब आगे जो वर्णन किया जा रहा है, वह विशेषतः बाह्य परिग्रह को लक्ष्य बनाकर। व्यवहार में बाह्य परिग्रह की ही

प्रधानता है, लेकिन बाह्य परिग्रह का आधार आभ्यन्तर परिग्रह है। जब तक आभ्यन्तर परिग्रह पूर्णतः विद्यमान है, तब तक प्राणी परिग्रह का रूप भी सुनना-समझना नहीं चाहता और न यही मानता है कि परिग्रह त्याज्य है। जब आभ्यन्तर परिग्रह का थोड़ा भी जोर कम होगा, कम से कम मिथ्यात्व रूप परिग्रह भी दूर होगा, तभी प्राणी यह सुन सकता है, कि अमुक वस्तु, विचार या कार्य परिग्रह है। और फिर चारित्र मोहनीय का जितने अंश मे क्षय उपशम या क्षयोपशम हुआ होगा उतने अंश में परिग्रह को त्याग भी सकेगा। यह समस्त वर्णन भी उन्हीं के लिये उपयोगी हो सकता है, जो आभ्यन्तर परिग्रह मे कम से कम मिथ्यात्व रूप परिग्रह से निवृत्त हो चुके हो। ऐसे ही लोगों को यह बताना है, कि आत्मा पर परिग्रह का कैसा बोझ है। यह बात यद्यपि बताई जा रही है बाह्य परिग्रह के नाम पर, लेकिन बाह्य परिग्रह और आभ्यन्तर परिग्रह का परस्पर अत्यधिक सम्बन्ध है। इसलिए बाह्य परिग्रह विषयक वर्णन के साथ आभ्यन्तर परिग्रह का वर्णन भी आप ही आजाएगा। बाह्य परिग्रह के भेदोपभेद का विशेष वर्णन प्रसंगवश आगे होगा ही, फिर भी प्रश्नव्याकरण सूत्र मे परिग्रह को वृक्ष का रूप देकर जो कुछ कहा गया है, यहाँ उसका वर्णन करना उचित होगा।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में परिग्रह को वृक्ष का रूप देकर कहा है, कि इस परिग्रह रूपी वृक्ष की जड़ तृष्णा है। मणि, हीरे, जवाहरात, आदि सब प्रकार के रत्न तथा अन्य मूल्यवान् पदार्थ, सोना, चाँदी आदि द्रव्य, स्त्री, परिजन, दास-दासी आदि द्विपद, घोड़ा, हाथी, बैल, भैंस, ऊँट, गधे, भेड़, बकरी आदि चतुष्पद, रथ, गाड़ी, पालकी प्रभृति वाहन, अन्न आदि भोज्य पदार्थ, पानी आदि पेय पदार्थ, वस्त्र बर्तन सुगन्धित-द्रव्य, और घर खेत पर्वत खदान ग्राम नगर आदि पृथ्वी की इच्छा-मूर्छा, इस परिग्रह रूपी वृक्ष की जड़ हैं।

प्राप्त वस्तु की रक्षा चाहना और अप्राप्त वस्तु की कामना करना परिग्रह वृक्ष का मूल है। क्रोध, मान, माया, लोभ इसके स्कन्ध हैं। प्राप्त की रक्षा और अप्राप्त की इच्छा से की गई अनेक प्रकार की चिन्ताएँ इस वृक्ष की डालियाँ हैं। इन्द्रियों के काम-भोग इस वृक्ष के पत्ते फूल तथा फल हैं। अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्लेश इस वृक्ष का कम्पन है। इस प्रकार परिग्रह एक वृक्ष के समान है।

यह तो कहा ही जा चुका है कि ममत्व का नाम ही परिग्रह है। ममत्व रूपी परिग्रह की जड़, इच्छा और मूर्छा है। वस्तु के प्रति जो ममत्व-भाव होता है, वह एक तो इच्छा रूप होता है, और दूसरा मूर्छा रूप। 'इच्छा' 'कामना' 'तृष्णा' या 'लोभ' कुछ भेद के साथ पर्यायवाची शब्द हैं। इसी प्रकार 'मूर्छा' 'गृद्धि' 'आसक्ति' 'मोह' और 'ममत्व' भी, कुछ भेद के साथ पर्यायवाची शब्द हैं। जो वस्तु अप्राप्त हैं, उसकी चाह होना, उसके न मिलने पर दुःखित और मिलने पर प्रसन्न होना, इच्छा, तृष्णा या कामना है। और जो वस्तु प्राप्त है, उसकी रक्षा चाहना, उसकी रक्षा का प्रयत्न करना, उसकी रक्षा के लिए चिन्तित रहना, उसकी कोई हानि न हो, उसे कोई ले न जावे या वह वस्तु चली न जावे, इस प्रकार का भय होना, उस वस्तु में अनुरक्त रहना, उसमें अपना जीवन मानना और उसके जाने पर दुःख करना, यह मूर्छा है। इस प्रकार की इच्छा या मूर्छा का नाम ही ममत्व है, और जिस वस्तु के प्रति ममत्व है, वही परिग्रह है। तत्वार्थसूत्र के रचयिता श्री उमा स्वामी ने कहा है—

मूर्छा परिग्रहः

अर्थात्—मूर्छा ही परिग्रह है।

———

इच्छा-मूर्च्छा ।

कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तितः ।
तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥

अर्थात्—बुद्धिमान लोग कहते हैं कि हृदय मे कामनाओ का निवास ही 'संसार' (जन्म मरण) है, और समस्त कामनाओ का नाश ही 'मोक्ष' (जन्म मरण से छूटना) है ।

पहले कहा जा चुका है कि ममत्व ही परिग्रह है । वह ममत्व इच्छा तथा मूर्छा रूप होता है । इस प्रकार इच्छा या मूर्छा का नाम ही ममत्व या परिग्रह है । इसलिये अब यह देखते है कि इच्छा और मूर्छा का जन्म कैसे होता है तथा इनका स्वरूप कैसा है ।

संसार में जन्म लेने वाले प्राणी कर्मलिप्त होते हैं । यदि कर्म-लिप्त न हों, तो संसार में जन्म ही न लेना पड़े । यह बात दूसरी है, कि कोई जीव कर्मों से कम लिप्त है और कोई अधिक लिप्त है ।

लेकिन जो संसार में जन्मा है वह कर्मलिप्त अवश्य है। कर्मलिप्त होने के कारण, आत्मा अपने स्वरूप को नहीं जानता। जानता भी है तो विश्वास या दृढ़ता नहीं रखता। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह 'सत्' अर्थात् सदा रहने वाला 'चिद्' अर्थात् चैतन्य रूप और 'आनन्द' अर्थात् सुख-निधान है। यह स्वयं सुख रूप है, फिर भी कर्मलिप्त होने के कारण अपने में रहा हुआ सुख नहीं देखता, स्वयं मे जो सुख है उस पर विश्वास नहीं करता, लेकिन चाहता है सुख ही! इसलिये जिस प्रकार स्वयं की नाभि में ही सुगन्ध देने वाली कस्तूरी होने पर भी, मृग, घास फूस को सूंघ २ कर उसमें सुगन्ध खोजता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं में रहे हुए सुख को भूल कर दृश्यमान जगत् में सुख मानने लगता है। दृश्यमान जगत में सुख है, यह समझकर आत्मा बुद्धि को और बुद्धि मन को प्रेरित करती है, तथा मन उस सुख को प्राप्त करने के लिए चंचल हो उठता है। इस प्रकार मन में सांसारिक पदार्थों की इच्छा उत्पन्न होती है। अर्थात् बाह्य जगत् में सुख मानने से मन में चंचलता आती है और मन की ऐसी चंचलता से इच्छा का जन्म होता है।

मन विशेपतः इन्द्रियानुगामी होता है। यह इन्द्रियों के साथ जाना अधिक पसन्द करता है। रुकावट न होने पर मन इन्द्रियों के प्रिय मार्ग पर ही चलता है और इन्द्रिय अपने विषयो में ही सुख मानती है। यद्यपि विपयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं, उनका काम पदार्थों का ज्ञान कराना है, लेकिन जब बुद्धि मन के अधीन हो जाती है और मन इन्द्रियो का अनुगामी बन जाता है, इन्द्रियों के साथ हो जाता है, तब इन्द्रियाँ स्वेच्छाचारिणी बन जाती हैं तथा विषयों में सुख मान कर उनकी ओर दौड़ने लगती हैं। इस प्रकार कर्मलिप्त होने के कारण आत्मा, सुख चाहता हुवा भी बुद्धि पर शासन नहीं कर सकता। बुद्धि से उसे अच्छी सम्मति

नहीं मिलती, किन्तु मन की इच्छानुसार सम्मति मिलती है और मन इन्द्रियानुगामी हो जाता है, इसलिए वह इन्द्रियों की रुचि के अनुसार ही इच्छा करता है। इस तरह इन्द्रिय मन और बुद्धि के अधीन होकर आत्मा इन्द्रियग्राह्य विषयों में ही सुख मानने लगता है और मन को ऐसी ही सुखो की इच्छा करने के लिए—ऐसे ही सुख प्राप्त करने के लिए—बुद्धि द्वारा प्रेरित करता है। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों की इच्छा का जन्म होता है।

मनुष्यों को जिन सांसारिक पदार्थों की इच्छा होती है, वे पदार्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, या इनमे से किसी एक विषय का पोषण करने वाले ही होते हैं। ऐसा कोई ही पदार्थ होगा, जिसके प्रति इच्छा तो है लेकिन वह पदार्थ शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श इन पाँचो या इनमें से किसी एक का पोषक नहीं है। प्रायः प्रत्येक पदार्थ की इच्छा, इन्द्रियों और मन की विषय लोलुपता से ही होती है। इस प्रकार विचार करने से इस निर्णय पर आना होता है कि मन की चंचलता और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता से इच्छा का जन्म होता है।

इच्छा के साथ ही मूर्छा का जन्म होता है। इच्छा और मूर्छा का अविनाभावी सम्बन्ध है। जैसे धुएँ के साथ आग का सम्बन्ध है—जहाँ धुआँ है वहाँ आग भी है—उसी प्रकार जहाँ इच्छा है, वहाँ मूर्छा भी है और जहाँ मूर्छा है, वहाँ इच्छा तो है ही।

जीव जब संसार में जन्मता है, तब पूर्व जन्म के संस्कार होने के कारण सांसारिक पदार्थों की इच्छा भी साथ ही जन्मती है। फिर जैसे जैसे अवस्था बढ़ती जाती है, मन में चंचलता आती जाती है, पदार्थ-जगत् का परिचय होता जाता है, पूर्व संस्कार विकसित होते जाते हैं और कल्पनाशक्ति की वृद्धि होती जाती है, वैसे ही वैसे इच्छा

की भी वृद्धि होती जाती है। अवस्था, मन, पदार्थों का परिचय और कल्पनाशक्ति की वृद्धि के साथ ही इच्छा की भी वृद्धि होती जाती है, और होते होते इच्छा का ऐसा रूप हो जाता है, जिसके लिए शास्त्र मे कहा है—

इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ।

अर्थात्—जैसे आकाश का अन्त नहीं है, उसी प्रकार इच्छा का भी अन्त नहीं है ।

मनुष्य जब जन्मता है, तब उसकी इच्छा माता के दूध तक ही सीमित रहती है, अधिक नहीं होती। फिर वह जैसे जैसे बड़ा होता जाताहै, उसकी इच्छा भी बढ़ती जाती है।जो मनुष्य बचपन मे केवल माता के दूध की ही इच्छा करता था, वह कुछ बडा होकर खाद्य पदार्थों, खेल-सामग्री या ऐसी ही दूसरी चीजों की इच्छा करने लगता है। जब और बड़ा होता है, तब कपड़े लत्ते और खाद्य तथा खेल सामग्री के लिए पैसे आदि की इच्छा करता है। फिर स्त्री पुत्र पौत्र धन-दौलत प्रभृति की इच्छा करता है। इस प्रकार वह जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है और सांसारिक पदार्थों को अधिक-अधिक जानता जाता है, उसकी इच्छा भी बढ़ती जाती है।

मनुष्य विशेषतः इहलौकिक और पारलौकिक पदार्थों की इच्छा करता है लेकिन उसकी इच्छा इहलौकिक और पारलौकिक देखे सुने हुए पदार्थों तक ही सीमित नहीं रहती; किन्तु जिन पदार्थों को कभी देखा सुना नहीं है, उन पदार्थों की भी कल्पना करता है और उनकी भी इच्छा करता है। इस प्रकार इच्छा अनन्त ही रहती है, उसका अन्त ही नहीं आता। अर्थात् यह नहीं होता कि अब इच्छा नहीं। बुढ़ापा आने पर तो इच्छा बहुत ही बढ़ जाती है। उस समय वह कैसी होती है, इसके लिए एक कवि कहता है—

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरंकितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥

अर्थात्—बुढ़ापे के कारण मुँह पर सल पड़ गये हैं, सिर के बाल पक कर सफेद हो गये हैं, और शरीर के सब अंग शिथिल हो गये हैं लेकिन तृष्णा तो जवान हो गई है। पहले से भी बढ़ गई है।

तात्पर्य यह कि मनुष्य के साथ ही इच्छा का भी जन्म होता है, लेकिन मनुष्य की आयु तो क्षीण होती जाती है, और इच्छा वृद्धि पाती जाती है। अवस्था के कारण तृष्णा की वृद्धि तो अवश्य होती है, परन्तु उसमें न्यूनता नहीं आती।

इच्छानुसार पदार्थों की प्राप्ति भी इच्छा को घटाने में समर्थ नहीं है। पदार्थों का मिलना भी, इच्छा की वृद्धि का ही कारण होता है। संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति न होगा, जिसकी इच्छा, इच्छानुसार पदार्थ मिलने से नष्ट हो गई हो। ऐसा होता ही नहीं है। हाँ, पदार्थों के मिलने से इच्छा की वृद्धि अवश्य होती है। इच्छा की जैसे-जैसे पूर्ति होती जाती है, वैसे ही वैसे वह तीव्र गति से बढ़ती जाती है। जो मनुष्य कभी पेट भरने के लिए रूखी सूखी रोटी और ठंड से बचने के लिए फटे मोटे कपड़े की इच्छा करता है, वही इनके प्राप्त होजाने पर स्वादिष्ट भोजन और सुन्दर वस्त्रों की इच्छा करता है। जब ये भी प्राप्त हो जाते हैं, तब थोड़े से धन की इच्छा करता है, और साथ ही साथ स्त्री, सुन्दर भवन तथा भोग-विलास की सामग्री भी चाहता है। इन सबके मिल जाने पर पुत्र पौत्र आदि की, फिर थोड़ी-सी भूमि की, थोड़े से अधिकार की, फिर राज्य की, साम्राज्य की, समस्त पृथ्वी की और स्वर्गादि की इच्छा करता है। एक कवि ने कहा ही है—

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये-
स पश्चात्संपूर्णः कलयति धरित्रीं तृणसमाम्।
अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥

अर्थात्—जब मनुष्य दरिद्री होता है, तब तो एक पस जौ की भूसी की ही इच्छा करता है, पर जब धनवान् हो जाता है, तब सारी पृथ्वी को भी तृण समान मानता है। इस प्रकार मनुष्य की अवस्थाविशेष ही वस्तु के विषय में भिन्नता पैदा करती है।

इस प्रकार जब तक कोई वस्तु प्राप्त नहीं है, तब तक तो मनुष्य को उस अप्राप्त वस्तु की इच्छा होती है, लेकिन जब वह अप्राप्त वस्तु प्राप्त हो जाती है, तब उससे भी आगे की अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है। जैसे जैसे पदार्थ प्राप्त होते जाते हैं, वैसे ही वैसे उनसे आगे के बढ़िया पदार्थों की इच्छा होती है। इस तरह संसार की सामग्रियों का अन्त तो आ सकता है, लेकिन इच्छा का अन्त नहीं आता।

इच्छा की तरह मूर्छा भी मनुष्य के साथ ही जन्मती और उत्तरोत्तर वृद्धि पाती जाती है। बचपन में मनुष्य माता और माता के दूध से ही ममत्व करता है। फिर, खेलने के पदार्थ और खाद्य पदार्थ से भी। इसी प्रकार अवस्था के बढ़ने से जैसी तृष्णा बढ़ती है, उसी प्रकार मूर्छा भी बढ़ती जाती है। मूर्छा भी कभी शान्त नहीं होती। वृद्धत्व के कारण भी मूर्छा के अस्तित्व में अन्तर नहीं पड़ता। बल्कि वृद्धत्व मूर्छा की वृद्धि करता है। बचपन और जवानी में किसी पदार्थ के प्रति जितनी मूर्छा होती है, उससे कई गुनी अधिक मूर्छा बुढ़ापे में हो जाती है। बचपन या जवानी में कोई व्यक्ति प्राप्त

पदार्थ के व्यय में जिस प्रकार की उदारता रखता है वृद्धावस्था आने पर प्रायः वैसी उदारता नहीं रहती। वृद्धावस्था आने पर उसे, पहले की तरह पदार्थ को अपने से दूर करने में दुःख होता है, और यदि विवश होकर उसे पदार्थ त्यागना पड़ता है, अथवा उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे पदार्थ छूट जाता है, तो उसको उस समय—बचपन या जवानी में उक्त कारण से जो दुःख हो सकता है उससे कई गुना अधिक होता है। इस प्रकार अवस्था के कारण मूर्छा की वृद्धि तो अवश्य होती है पर उसमें न्यूनता नहीं आती। अधिक पदार्थों की प्राप्ति भी मूर्छा को न्यून नहीं करती, किन्तु वृद्धि ही करती है। आज जिसके पास केवल चार पैसे हैं; उसकी मूर्छा उन चार पैसों में ही रहती है, लेकिन आगे यदि उसे विशाल राज्य प्राप्त हो जावे, तो वह उस राज्य में मूर्छित रहने लगता है। फिर उसको यह विचार नहीं होता कि मेरे पास तो केवल चार ही पैसे थे, अतः मैं इस राज्य पर मूर्छा क्यों करूँ! वह उसमें मूर्छित रहता है और आगे यदि उसे विशाल साम्राज्य प्राप्त हो जावे तो उस व्यक्ति में उस साम्राज्य के प्रति भी मूर्छा रहेगी।

यहाँ यह विचार करना भी आवश्यक है, कि इच्छा और मूर्छा का अन्त क्यों नहीं होता? इच्छा और मूर्छा का अन्त न होने का कारण यह है, कि आत्मा सुख का इच्छुक है। वह सुख प्राप्ति के लिए ही सांसारिक पदार्थों की इच्छा और उनसे मूर्छा करता है, लेकिन सांसारिक पदार्थों मे सुख है ही नहीं। सुख तो स्वयं आत्मा में ही है, अज्ञान अथवा भ्रमवश उसको न देखकर आत्मा बाह्य पदार्थों में सुख मानता है। इसलिए सुख की इच्छा से आत्मा जिसे पकड़ता है, सुख उससे आगे के पदार्थों में दिखाई देता है। जैसे मृगतृष्णा को देखकर मृग जल की आशा से दौड़ कर जाता है, लेकिन उसको जल और आगे ही आगे जाता हुआ जान पड़ता है, इसलिये वह आगे

दौड़कर जाता है। इस प्रकार मृगतृष्णा मे जल की खोज करता हुआ वह दौड़ता-दौड़ता मर जाता है, परन्तु उसे मृगतृष्णा से जल नहीं मिलता।

इसी प्रकार आत्मा पहले किसी एक पदार्थ मे सुख देखता है, लेकिन जब वह पदार्थ प्राप्त हो जाता है, तब उस पदार्थ मे उसे सुख नहीं जान पड़ता किन्तु अप्राप्त पदार्थ में सुख जान पड़ने लगता है। इसलिए उस अप्राप्त पदार्थ की इच्छा करता है। इस प्रकार सुख की इच्छा से वह अधिकाधिक आगे के पदार्थों की इच्छा करता जाता है, परन्तु उसे किसी भी पदार्थ में सुख नहीं मिलता। फिर भी आत्मा को भ्रम यही रहता है, कि सुख इन पदार्थों में ही है। इस भ्रम के कारण वह पदार्थों की इच्छा करता ही जाता है। यहाँ तक कि पदार्थों का अन्त तो आ जाता है, परन्तु इच्छा का अन्त नहीं आता, और जब इच्छा का अन्त नहीं आता, तब मूर्छा का अन्त कैसे आ सकता है? इस प्रकार जब तक आत्मा स्वयं मे रहे हुए सुख को नहीं देखता, किन्तु बाह्य पदार्थों में सुख मानता है, तब तक इच्छा और मूर्छा का भी अन्त नहीं हो सकता।

इच्छा से मूर्छा का और मूर्छा से संग्रहबुद्धि का जन्म होता है। इच्छित पदार्थ के मिलने पर, उससे मूर्छा होती है, और जिनके प्रति मूर्छा है, उनको त्यागा नहीं जा सकता। इसलिए उनका संग्रह करता है। यद्यपि पदार्थ की इच्छा सुख-प्राप्ति के लिए ही होती है, और इच्छित पदार्थ के मिल जाने पर उसमे सुख नहीं जान पडता—किन्तु दूसरे अप्राप्त पदार्थ में सुख जान पड़ने लगता है—फिर भी आत्मा प्राप्त पदार्थ को छोड़ना नहीं चाहता। उस प्राप्त पदार्थ से उसे ममत्व हो जाता है, इसलिए ऐसे पदार्थों का संग्रह करता जाता है। इस प्रकार इच्छा से मूर्छा का और मूर्छा से संग्रहबुद्धि का जन्म होता है।

———

परिग्रह से हानि ।

कलहकलभविन्ध्यः क्रोधगृध्रश्मशानम् ।
व्यसनभुजगरन्ध्रं द्वेषदस्युप्रदोषः ॥
सुकृतवनदवाग्निर्मार्दवांभोदवायु-
र्नयनलिनतुषारोऽत्यर्थमर्थानुरागः ॥

अर्थात्—अर्थानुराग (ममत्व) कलह रूपी बालहाथी को क्रीड़ा करने के लिये विन्ध्याचल के समान है। जिस प्रकार हाथी का बच्चा वन (पर्वत) में क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार जहाँ परिग्रह है, वहाँ कलह क्रीड़ा करता है। कलह का स्थान परिग्रह ही है। क्रोध रूपी गिद्ध के लिये परिग्रह श्मशान तुल्य है। जैसे गिद्ध को श्मशान प्रिय होता है—वहाँ उसे भोजन मिलता है—उसी प्रकार क्रोध का स्थान परिग्रह है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ क्रोध भी अवश्य है। अथवा क्रोध वहीं रहता है, जहाँ परिग्रह है। परिग्रह, दुर्व्यसन रूपी साँप के लिए बाँबी के समान है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ सभी प्रकार के दुर्व्य-

सन है। जैसे सन्ध्या होने पर चोर डाकुओ का जोर चलता है, उसी प्रकार परिग्रह होने पर द्वेष का भी जोर चलता है। द्वेष वहीं रहता है, जहाँ परिग्रह है। सुकृत रूपी वन के लिऐ परिग्रह अग्नि के समान है। जैसे आग जंगल को जला देती है, उसी प्रकार परिग्रह, सुकृत को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार बादलों का दुश्मन पवन है, उसी प्रकार मृदुता का दुश्मन परिग्रह है। जैसे हवा आने पर बादल नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार जहाँ परिग्रह है वहाँ मृदुता नहीं रह सक्ती। न्याय को तो परिग्रह उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस तरह कमल-वन को पाला नष्ट कर देता है। तात्पर्य यह कि परिग्रह, कलह क्रोध दुर्व्यसन तथा द्वेष का पोपक और सुकृत मृदुता तथा न्याय का नाशक है।

परिग्रह द्वारा होने वाली हानि का, यह स्थूल रूप बताया गया है। परिग्रह, समस्त दुःखों का कारण है। परिग्रह से व्यक्ति की भी हानि होती है, समाज की भी। यह आध्यात्मिक हानि का कारण है और शारीरिक हानि का भी। इसके द्वारा क्या क्या हानि होती है, यह संक्षेप में बताया जाता है।

(१) संग्रहबुद्धि का फल।

इच्छा मूर्छा रूप ममत्व से संग्रह बुद्धि का जन्म होता है। इच्छा मूर्छा होने पर, किसी पदार्थ की ओर से सन्तोप नहीं होता। चाहे जितनी सम्पत्ति हो, चाहे जैसा राज्य हो और चाहे जितनी स्त्रियाँ हो, फिर भी यही इच्छा रहती है, कि मैं और संग्रह करूँ। इस प्रकार की सग्रहबुद्धि ने ही संसार में दुःख फैला रखा है। संसार में जितने भी दुखी हैं, वे सब संग्रह बुद्धि के प्रताप से ही। वैज्ञानिकों का कथन है, कि जीवन के लिए आवश्यक समस्त पदार्थ प्रकृति इस परिमाण मे उत्पन्न करती है कि जिससे सबकी आवश्यकता-पूर्ति हो सके। ऐसा

होते हुए भी संसार मे नङ्गे भूखे लोग दिखाई देने का कारण लोगो की बढ़ी हुई संग्रह बुद्धि ही है। कुछ लोग अपने पास आवश्यकता से अधिक पदार्थ संग्रह कर रखते है, और दूसरे लोगों को उन पदार्थों के उपयोग से वंचित रखते हैं। इसी कारण लोगो को भूखा नंगा रहना पड़ता है। एक ओर तो कुछ लोग अपने यहाँ अत्यधिक अन्न जमा रखते हैं, जो सड़ जाता है, और दूसरी ओर कुछ लोग अन्न के बिना हाहाकार करते रहते हैं। एक ओर पेटियों में भरे हुए वस्त्र सड़ रहे हैं, उन्हें कीड़े खा रहे है, और दूसरी ओर लोग जाड़े से मर रहे हैं। एक ओर कुछ लोग बड़े-बड़े मकानों में ताले डाले रखते हैं, और दूसरी ओर कुछ लोगो के पास वर्षा शीत ताप से बचने तक को स्थान नहीं है। एक ओर कुछ लोगो के पास इतनी ज्यादा भूमि है, कि जिसमें कृषि करना उनके लिए बहुत ही कठिन है, और दूसरी ओर कुछ लोगों को ज़मीन का इतना टुकड़ा भी नहीं मिलता, जिसको जोत-बो कर वे अपना पेट पाल सकें। कुछ लोगो के पास रुपये पैसे का इतना अधिक संग्रह है, कि ज़िसे जमीन मे गाड़ रखा है, या उन्हें जिसकी आवश्यकता ही नहीं है, और दूसरी ओर कुछ लोग रत्ती-रत्ती सोना चाँदी या पैसे पैसे के लिए तरसते हैं। इस प्रकार संसार में जो वैषम्य दिखाई दे रहा है, यह संग्रह बुद्धि के कारण ही।

जिसकी आवश्यकता नहीं है, उसको अपने पास संग्रह कर रखने और उसके अभाव में दूसरों को कष्ट पाने देने से ही बोल्शेविज्म का जन्म हुआ है। इस प्रकार का वैषम्य रूस में बहुत ज्यादा फैल गया था। अन्त में पीड़ित लोगो ने क्रान्ति कर दी, जिससे वहाँ के उन लोगो को बहुत कष्ट भोगना पड़ा, जिन्होंने अपने पास आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह कर रखा था।

लोग, पदार्थों का संग्रह इच्छा मूर्छा के वश होकर तो करते ही हैं, लेकिन उनमें प्रधानत. विना श्रम किये ही सांसारिक सुख भोगने और इस प्रकार स्वयं को बड़ा सिद्ध करने, तथा इच्छा मूर्छा के कारण उत्पन्न अभिमान का पोषण करने की भावना भी रहती है। इस भावना से प्रेरित होकर वे, संसार के अधिक से अधिक पदार्थों पर अपना आधिपत्य करने का प्रयत्न करते हैं और जिन लोगों को पदार्थों की आवश्यकता है—उन पदार्थों के विना जिन्हें कष्ट है—उन लोगों से बदला लेकर फिर उन्हे वे पदार्थ देते हैं। भूमिकर और सूद, अथवा साम्राज्यवाद और पूँजीवाद इस भावना का परिणाम है।

२—मुद्रा का दुष्परिणाम

लोगो में, उसी पदार्थ को संग्रह करने, उसी पदार्थ को अधिक मात्रा में अपने अधिकार में करने की भावना रहती है, जिसके द्वारा अन्य समस्त पदार्थ सरलता से प्राप्त हो सकें। आजकल ऐसा पदार्थ स्वर्ण-मुद्रा या रजत मुद्रा माना जाता है। जिस समय मुद्रा का प्रचलन नहीं था, उस समय के लोगों में-आज के लोगों की तरह संग्रह बुद्धि भी नहीं होती थी। न उस समय संसार में आज का-सा वैषम्य, आज की-सी वेकारी और आज का-सा दुःख ही होता था। जब विनिमय-मुद्रा के अधीन नहीं था, तब अन्य वस्तुओ का ही परस्पर विनिमय होता था। उदाहरण के लिए उस समय किसी को वस्त्र की आवश्यकता हुई और उसके यहाँ अन्न है, तो वह अन्न देकर वस्त्र ले आता था। किसी के यहाँ नमक है, और उसे घी की आवश्यकता है, तो वह नमक देकर घी ले आता था। इस प्रकार, वस्तु से वस्तु का विनिमय होता था। मुद्रा से वस्तु का विनिमय होना तो दूर रहा, किसी समय मुद्रा का प्रचलन ही न था। ऐसे समय में, यदि कोई पदार्थों का संग्रह रखता भी तो कहाँ तक। अन्न, वस्त्र या ऐसे

ही दूसरे पदार्थ, किसी निर्धारित समय तक ही रह सकते हैं। अधिक समय होने पर बिगड़ जावेंगे। इसलिए लोग ऐसे पदार्थों को अधिक दिनों तक नहीं रख सकते थे। लेकिन जब से मुद्रा का प्रचलन हुआ है, तब से संग्रह की कोई सीमा ही नहीं रही। विनिमय मुद्रा के अधीन रहा, और मुद्रा ऐसी धातु से बनी है, जो सैंकड़ों हजारों वर्ष तक भी न सड़ती है न घुलती है। इसलिए लोग मुद्राओं का संग्रह अधिक रखते हैं, जिससे पदार्थों का विनिमय रुक जाता है और लोगों को कष्ट का सामना करना पड़ता है। जब कृषि आदि द्वारा उत्पन्न पदार्थों का परस्पर विनिमय होता था, तब लोग अधिक संग्रह भी नहीं रखते थे, और पदार्थ खराब हो जावेंगे, यह समझ कर उदारता से भी काम लेते थे। परन्तु जब से विनिमय स्वर्ण रजत आदि धातु के अधीन हुआ है, तब से सग्रह की भी सीमा नहीं रही और उदारता का भी आधिक्य नहीं रहा। आज की विनिमय पद्धति के लिए कहा तो यह जाता है, कि मुद्रा (सिक्के) से विनिमय में सुविधा हो गई है, परन्तु विचार करने पर मालूम होगा, कि कृषि और गोपालन द्वारा उत्पन्न पदार्थों का विनिमय खनिज पदार्थों के अधीन हो जाने से संसार महान् दु:खी हो गया है। जब विनिमय मुद्रा के अधीन नहीं था, तब कृषक लोग भूमिकर में उसी वस्तु का कोई भाग देते थे, जो उन्हें कृषि द्वारा प्राप्त होती थी। ऐसा कर (महसूल) चक्रवर्ती तो उपज का बीसवाँ भाग लेते थे, वासुदेव दशमांश और साधारण राजा षष्ठांश लेते थे। इससे अधिक कर नहीं लिया जाता था। लेकिन आजकल कृषि से तो अन्न या दूसरे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, और भूमिकर मुद्रा के रूप में लिया जाता है। इससे कृषकों को अन्नादि सस्ते भाव में भी बेच देना पड़ता है। इसके सिवा, कृषि में कुछ उत्पन्न हो या न हो, अथवा कम उत्पन्न हो, फिर भी भूमि कर (लगान) तो प्रायः बराबर ही देना होता है। इस प्रकार जब से सिक्के का निर्माण और प्रचलन हुआ है,

जनता अधिक दुःखी हुई है। सिक्के के कारण व्यापारी भी थोड़ी ही देर मे धनवान बनजाता है, और थोड़ी ही देर मे दिवाला निकाल देता है। यह सिक्के का ही प्रताप है। इस प्रकार सिक्के के निर्माण और उसकी वृद्धि ने आपत्तियों की भी वृद्धि की है। इसलिए किसी एक बादशाह ने अपने राज्य में भारी-भारी (वजनदार) सिक्का चलाया था । उसका कहना था, कि सिक्का जितना भी कम हो उतना ही अच्छा है।

(३) दुःखों का मूल—परिग्रह

सांसारिक पदार्थों से, आत्मा को कभी भी सुख नहीं मिलता क्योंकि सांसारिक पदार्थों में सुख है ही नहीं। इसलिए उनसे चाहे जितना ममत्व किया जावे—उनको चाहे जितना संग्रह किया जावे- उनसे सदा दुःख ही होता है। संसार के प्राप्त पदार्थ भी दुःख देते हैं और जो प्राप्त नहीं हैं, वे भी दुःख देते हैं। जो प्राप्त हैं, उन्हें प्राप्त करने में भी दुःख उठाना पड़ा है, उनके प्राप्त हो जाने पर भी दुःख ही है और उनके जाने पर भी दुःख ही होता है। जिसके पास जितने अधिक पदार्थ हैं, उसको उतनी ही अधिक चिन्ता है, उतना ही भय है और उतनी ही अधिक अशान्ति है। उदाहरण के लिए एक आदमी के पास कुछ ही रुपये हैं और दूसरे के पास बहुत रुपये हैं। जिसके पास कुछ ही रुपये हैं उसे भी चिन्ता और भय तो रहेगा, परन्तु जिसके पास अधिक रुपये हैं, उसे चिन्ता भी अधिक रहेगी और भय भी अधिक रहेगा। उसको उस धन की रक्षा के लिए, मकान, तिजोरी ताले और पहरेदार भी रखने पड़ेंगे। यह सब होने पर भी, चिन्ता तो बनी ही रहेगी। यह भय सदा ही रहेगा कि कोई मेरा धन न ले जावे। रात को सुख से नींद भी न आवेगी। और नौकर चाकर स्त्री पुत्र पर भी सन्देह रहेगा, तथा उनकी ओर का भय भी रहेगा।

इसी प्रकार, संसार की जितनी भी आपत्तियाँ हैं, सब परिग्रह के कारण ही हैं। चोर डाकू और आग पानी आदि का भय परिग्रही को ही होता है। राजकोप आदि आपत्तियाँ भी परिग्रही पर ही आती हैं। किसी कवि ने कहा ही है—

संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशंक्यते ।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते ॥ १ ॥
सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरा रिविड्वरात् ।
बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शंक्यते भृशं ॥ २ ॥
स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिद्रूयते धनी ।
यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्द्रुमण्डलैः ॥ ३ ॥

अर्थात्—धनवान् (परिग्रही) पुरुष, धन की रक्षा के लिए रात को सोता भी नहीं है, और पुत्र स्वजन राजा दुष्ट चोर वैरी बन्धु स्त्री, मित्र अथवा परचक्र आदि से, यहाँ तक कि जो समस्त परिग्रह के त्यागी हैं उन गुरु से भी शंकित ही रहता है। उसको सभी की ओर से सन्देह रहता है। क्योंकि धनवान् यानी परिग्रही अपनी ही जाति के मनुष्यों द्वारा उसी प्रकार दुःखित भी किया जाता है, जिस प्रकार मांसभक्षी पक्षियों द्वारा वह पक्षी दुःखित किया जाता है, जिसके पास मांस का टुकडा है।

परिग्रह, प्राप्त होने से पहले, भी दुःख देता है, प्राप्त होकर भी दुःख देता है, और छूटकर भी दुःख देता है। हाँ, यह अन्तर अवश्य है कि बड़े परिग्रह के साथ बड़ा दुःख लगा हुआ है और छोटे के साथ छोटा दुःख है लेकिन परिग्रह के साथ दुःख अवश्य है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को फूलों की माला की इच्छा हुई और दूसरे व्यक्ति को मोतियों की माला की इच्छा हुई। फूल की माला थोड़े ही कष्ट से

प्राप्त भी हो जावेगी, उसकी रक्षा की चिन्ता भी थोड़ी ही करनी पड़ेगी, उसके जाने का भय भी थोड़ा ही रहेगा और उसके जाने या नष्ट होने पर दुःख भी थोड़ा ही होगा। परन्तु मोती की माला अधिक कष्ट से भी प्राप्त होगी, उसकी रक्षा की चिन्ता भी अधिक करनी पड़ेगी, उसके जाने का भय भी अधिक रहेगा और यदि उसे चोर ले जावे, कोई छीन ले, या वह खो जावे, तो दुःख भी बहुत होगा। इस प्रकार थोड़े दुःख और अधिक दुःख का अन्तर तो अवश्य है, लेकिन परिग्रह के साथ दुःख अवश्य लगा हुआ है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है—

अर्थानामर्जने दुःखं अर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थः दुःखभाजनम् ॥

अर्थात्—परिग्रह के उपार्जन मे दुःख है, और उपार्जित के रक्षण मे भी दुःख है, इसलिए दुःख के पात्र परिग्रह को धिक्कार है। एक और कवि भी कहता है—

दुःखमेव धनव्यालविपविध्वस्तचेतसां।
अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये ॥

अर्थात्—धन रूपी सर्प के विष से जिनका चित्त खराब हो गया है, उन लोगों को सदा दुःख ही होता है। उन्हें धनोपार्जन में भी दुःख होता है, रक्षा करने में भी दुःख होता है और धन के नाश अथवा व्यय मे भी होता है।

पदार्थों के पाने से पहले आत्मा को शान्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है, पदार्थ मिलने पर वह चली जाती है। उससे बन्धन में भी पड़ जाना होता है। उदाहरण के लिए किसी पैदल जाते हुए को घोड़ा मिल गया। घोड़ा पाकर वह आदमी कुछ देर के लिए ऐसा चाहे समझे कि उसको शान्ति मिली है और मैं स्वतन्त्र हुआ

हूँ, परन्तु वास्तव मे घोड़ा पाकर वह दुःखी तथा परतन्त्र हुआ है। अब उसे घोड़े की चिन्ता ने और आ घेरा। वह पैदल चाहे जहाँ और जब जा सकता था, घोड़ा लिए हुए वहाँ और उस समय नहीं जा सकता। इसी प्रकार संसार के अन्य समस्त पदार्थों के लिए भी समझ लेना चाहिए। संसार के समस्त पदार्थ, स्वतन्त्रता का हरण करने वाले, परतन्त्र बनाने वाले तथा अशान्ति उत्पन्न करने वाले हैं।

(४) परिग्रही के दोष।

परिग्रही में, दूसरे के प्रति सदा ही ईर्षा का भाव बना रहता है। वह यही सोचता रहता है कि अमुक आदमी गिर जावे और मैं उससे बड़ा हो जाऊँ, वह व्यक्ति मेरी समानता का न हो जावे, उसको अमुक वस्तु क्यों मिल गई, आदि। इस प्रकार वह दूसरों का अहित ही चाहता है। वह किसी प्रकार अप्राप्त पदार्थ को पाकर उससे भी तभी सुख मानता है, जब तक उसे वैसा पदार्थ दूसरो के पास नही दिख पड़ता। दूसरो के पास वैसा पदार्थ देख कर, उसके हृदय में ईर्षा होती है और उसे अपने पास के पदार्थ मे सुख नहीं जान पड़ता। वह सोचता है कि इसमें क्या है। ऐसा तो उस अमुक के पास भी है।

परिग्रह निर्दयता भी लाता है। हृदय को कठोर बनाता है। जो जितना परिग्रही है, वह उतना ही निर्दय और कठोर-हृदय है। यदि उसमें निर्दयता और कठोरता न हो, तो वह-लोगों को दुःखी देख कर भी-अपने पास पदार्थ संग्रह नहीं रख सकता। इसी प्रकार परिग्रही व्यक्ति अपने किंचित् कष्ट को तो महान् दुःख समझता है, लेकिन दूसरे के महान् दुःख की उसे कुछ भी पर्वाह नहीं होती। दूसरा कोई दुःखी है तो रहे, परिग्रही तो यही चाहता है कि मेरे काम में कोई बाधा न आवे। मेरे लिए दूसरे को कैसा कष्ट होता है, मेरे व्यवहार

से दूसरे को कैसी व्यथा होती है, इन बातों की ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता। वह तो समझता है, कि कष्ट सह कर मुझे सुख देने के लिए ही दूसरे लोग बने हैं, और मैं दूसरों को कष्ट देकर सुख भोगने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ। ऐसा व्यक्ति, दीन दुखियों की सहायता के नाम पर कुछ खर्च भी कर देता हो, लेकिन उसका यह कार्य दया या सहृदयता की प्रेरणा से ही हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह प्रायः लोगों को दिखाने, यशस्वी बनने और अपने प्रति जनता को आकर्षित करके अपनी गणना दानियों में कराने के लिए ही, संचित या प्राप्त परिग्रह का एक तुच्छ अंश दे देता है। वस्तुतः उसमें दया और सहृदयता हो ही नहीं सकती। यदि उसमें दया और सहृदयता हो तो वह परिग्रह के लिए किसी को किंचित् भी कष्ट नहीं दे सकता, न अपने पास अधिक रख उन पदार्थों के अभाव में दूसरों को कष्ट ही पाने दे सकता है।

परिग्रह में द्रोह की प्रधानता रहती है, और जहाँ द्रोह है, वहाँ प्रेम का अभाव स्वाभाविक ही है। इस प्रकार परिग्रह प्रेम का नाशक है। यह बात ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है।

सांसारिक पदार्थों का संग्रह रखने वाला—उनसे ममत्व करने वाला—सांसारिक पदार्थों को ही महत्त्व देता है, आत्मा और गुणों की तो उपेक्षा या अवहेलना ही करता है। वह सम्मान भी उसीका करता है, जिसके अधिकार में सांसारिक पदार्थ अधिक हैं। इसके विरुद्ध, जिसके पास सांसारिक पदार्थों का वैसा आधिक्य नहीं है, उसका आदर करना तो दूर रहा, उसकी ओर देखना भी पसन्द नहीं करता, न उसके सुख दुःख की ही अपेक्षा करता है। चाहे वह गुणी हो अथवा दुःखी हो। उसमें गुणी के प्रति प्रमोद भावना और दुःखी के प्रति करुणा भावना नहीं होती।

परिग्रह के लिए आत्मा की भी अवहेलना की जाती है, और उससे भी द्रोह किया जाता है। आत्मा को बड़ा नहीं समझा जाता, किन्तु परिग्रह को ही बड़ा समझा जाता है और आत्मा का आदर नहीं किया जाता, किन्तु परिग्रह का आदर किया जाता है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ आलस्य-अकर्मण्यता भी है। दूसरे के श्रम का लाभ लूटने और स्वयं का जीवन आलस्य एवं विलास में बिताने की ही भावना रहती है, तथा इसी प्रकार का प्रयत्न किया जाता है।

परिग्रही व्यक्ति स्वयं को ही सब से अधिक गुणवान् समझता है। फिर चाहे उसमे दुर्गुण ही दुर्गुण क्यों न हों। एक कवि के कथनानुसार तो परिग्रही में जरा भी गुण नहीं होता। यह कवि कहता है—

नाणवोऽपि गुणा लोके दोषा शैलेन्द्रसन्निभाः।
भवन्त्यत्र न सन्देहः संगमासाद्य देहिनाम् ॥

अर्थात्—परिग्रही में निस्सन्देह जरा भी गुण नहीं होता, और दोष सुमेरु की तरह के बड़े २ होते हैं।

इसके अनुसार परिग्रही में दोष ही दोप होते हैं, गुण जरा भी नहीं होता, फिर भी वह समझता यही है, कि जो कुछ हूँ मै ही हूँ। समस्त गुण मुझ में ही है। ऐसे लोगों का व्यवहार देखकर ही किसी कवि ने कहा है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति।

अर्थात्—जिनके पास धन है, वह आदमी कुलवान् न होने पर भी कुलीन माना जाता है, बुद्धिहीन होने पर भी बुद्धिमान् माना जाता है, शास्त्रज्ञ न होने पर भी शास्त्रज्ञ माना जाता है, गुणवान् न होने पर भी गुणवान् माना जाता है, वक्ता न होने पर भी वक्ता माना जाता है और दर्शनीय न होने पर भी दर्शनीय समझा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सारे गुण धन में ही समझे जाते हैं।

परिग्रही में अभिमान भी बहुत होता है। वह, स्वयं को बड़ा सिद्ध करने—स्वयं का अधिकार जताने—के लिए, दूसरे का अपमान करने में भी संकोच नहीं करता।

परिग्रही व्यक्ति से प्रायः धर्म कार्य नहीं हो सकते। जो जितना अधिक परिग्रही है, वह धर्म से उतना ही अधिक दूर है। वह लोगों को दिखाने, स्वयं को धार्मिक सिद्ध करने आदि उद्देश्य से चाहे धर्म-कार्य करता हो और उनमें भाग भी लेता हो, परन्तु वस्तुतः उसमें पूर्ण धार्मिकता नहीं हो सकती। यह प्रायः समस्त धर्मकार्य, सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति या उनकी रक्षा की कामना से ही करता है, निष्काम होकर नहीं करता। पहले तो ऐसा व्यक्ति, स्थिर चित्त से धर्माराधन या ईश्वर-भजन कर ही नहीं सकता। उसका चित्त, सदा अस्थिर चिन्ताग्रस्त एवं भयग्रस्त रहता है, इस कारण उससे धर्माराधन या ईश्वर-भजन होना कठिन है। इस पर भी यदि वह ऐसा करता है, तो प्राप्त पदार्थ की कुशलक्षेम, अथवा अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए ही। और यदि कभी उसकी कामना के विपरीत कार्य हुआ, तो उस दशा में वह धर्माराधन या ईश्वर-भजन करना त्याग ही नहीं देता, किन्तु धर्म और ईश्वर पर अविश्वास भी करने लगता है। उसका सिद्धान्त क्या होता है, इसके लिए भर्तृहरि कहते हैं—

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छता-
च्छीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवल
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायः समस्ता इमे ॥

अर्थात्—चाहे जाति रसातल को चली जावे, समस्त गुण रसातल से भी नीचे चले जावें, शील पहाड़ से गिरकर नष्ट हो जावे, और बैरिन शूरता पर शीघ्र ही वज्र आ पड़े तो कोई हर्ज नहीं, हमारा धन नष्ट न हो हमें तो केवल धन चाहिये । क्योंकि, धन के बिना मनुष्य के सारे ही गुण तिनके के समान व्यर्थ हैं ।

परिग्रह के लिए, धर्म और ईश्वर के प्रति विद्रोह भी किया जाता है, और धर्म के स्थान पर अनीश्वरवाद की स्थापना की जाती है । परिग्रह के लिए ही छल कपट और अन्याय-अत्याचार को धर्म का रूप दिया जाता है । कुगुरु और कुदेव को परिग्रह के लिए ही माना जाता है । परिग्रह के लिए ही धर्म की मर्यादा उल्लंघन की जाती है और ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार किया जाता है । धर्म और ईश्वर विरोधी समस्त कार्य, परिग्रह के कारण ही होते हैं ।

परिग्रह के लिए ही दुर्व्यसनो का सेवन किया-कराया जाता है । मांसभक्षण मदिरापान जुआ निन्दा चुगली आदि सब दुर्व्यसन परिग्रह के कारण ही सेवन किये जाते हैं या कराये जाते हैं ।

छल कपट और अन्याय अत्याचार भी परिग्रह के लिए ही होता है । परिग्रह के लिए ही विश्वासघात का भयंकर पाप किया जाता है और परिग्रह के लिए ही न्यायाधीश कहलाने वालो द्वारा अन्याय किया जाता है ।

परिग्रह के लिए प्रकृति से भी विरोध किया जाता है। उसका सौन्दर्य नष्ट किया जाता है। जनता को प्रकृति दत्त लाभों से वंचित रखा जाता है। जंगल काट डाले जाते हैं, नदियों का पानी रोक दिया जाता है या बांट दिया जाता है, तथा भूमि और पहाड़ो को खोद डाला जाता है। इस प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य और मनुष्य के लिए आवश्यक है प्राकृतिक सुविधा भी नष्ट करदी जाती है, और उसके स्थान पर कृत्रिमता का पोपण किया जाता है।

यह नियम है कि जो जिसका ध्यान करता है वह वैसा ही बन जाता है। आत्मा चेतन है और संसार के समस्त पदार्थ जड़ हैं। जब चेतन आत्मा जड़ पदार्थों का ही ध्यान करता रहेगा, तब उसमे भी जड़ता आना सम्भव है। इसके सिवा, जड़ दृश्य पदार्थों का ध्यान करने से आत्मा द्रष्टा को यानी स्वयं को भूल जाता है। वह विचार भी नहीं करता कि मैं द्रष्टा, दृश्य में कैसे भूल रहा हूँ ?

अज्ञान में पड़ा हुआ आत्मा, साँसारिक पदार्थों से ममत्व करके उनका संग्रह तो करता है, लेकिन आत्मा को सांसारिक पदार्थों से ममत्व करने और उनका संग्रह करने का अधिकार है या नहीं, यह एक विचारणीय बात है। सांसारिक पदार्थ, आत्मा के तद्रूप भी नहीं है, वे आत्मा का साथ भी छोड देते हैं—आत्मा के साथ या पास रहते भी नहीं हैं-फिर आत्मा किसी वस्तु को अधिकार पूर्वक अपनी कैसे कह सकता है, और उनका संग्रह क्यो करता है ? वस्तुत आत्मा का सांसारिक पदार्थों पर कोई अधिकार नहीं है। फिर भी अज्ञान के कारण आत्मा उनका संग्रह करता है, उनसे ममत्व रखता है, और इस प्रकार स्वयं की हानि ही करता है।

५—पापमूल परिग्रह

परिग्रह पाप-बन्ध का कारण है। यह अन्तिम और प्रधान आस्रवद्वार है, प्रथम के चार आस्रवद्वारो का रक्षक एवं पोपक है।

प्रथम के चार आस्रवों की उत्पत्ति इसी से है। यह समस्त पापों का कारण है। भगवती सूत्र के दूसरे शतक में गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है, कि इच्छा मूर्छा और गृद्धि (अर्थात् परिग्रह) से, क्रोध, मान, माया, लोभ का अविनाभावी सम्बन्ध है। जहाँ इच्छा मूर्छा है, वहाँ क्रोध मान माया लोभ भी हैं। क्रोध मान माया लोभ, पापानुबन्ध चौकड़ी है। जहाँ क्रोध मान माया लोभ हैं, वहाँ सभी पाप हैं, और जहाँ परिग्रह है, वहाँ क्रोध मान माया लोभ है। इस प्रकार परिग्रह, समस्त पापों का केन्द्र है। सब पाप परिग्रह से ही उत्पन्न होते हैं। प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी कहा है, कि परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिलाते हैं, परदारगमन तथा परदारहरण करते हैं, क्षुधा तृषा आदि कष्ट स्वयं भी सहते हैं और दूसरे को भी ऐसे कष्ट में डालते हैं, कलह करते हैं, दूसरे का बुरा चाहते है, दूसरे के लिए अपशब्द कहते हैं, दूसरे का अपमान करते हैं तथा स्वयं भी अपमानित होते हैं, सदैव चिन्तित रहते हैं, और बहुतों का हृदय दुखाते हैं। क्रोध मान माया लोभ का उत्पादक परिग्रह ही है।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने समस्त पापों का कारण परिग्रह ही बताया है। अनुभव से भी यह स्पष्ट है कि संसार में जितने भी पाप हैं, वे सब परिग्रह के ही कारण हैं और परिग्रह के लिए ही किये जाते हैं। ऐसा कोई भी पापकर्म न होगा, जो परिग्रह के कारण न किया गया हो। लोग इच्छा और मूर्छा के वश होकर ही प्रत्येक पाप करते हैं। जिसमें या जहाँ इच्छा मूर्छा नहीं है, उसमे या वहाँ किसी भी प्रकार का पाप नहीं है।

संसार मे जितनी भी हिंसा होती है, वह परिग्रह के लिए ही। परिग्रह के वास्ते ही लोग हिंसा करते हैं। शब्द रूप रस गन्ध और

स्पर्श के साधन राज्य धन और स्त्री के लिए ही युद्ध हुए हैं, और होते हैं। राम और रावण का युद्ध परिग्रह के लिए ही हुआ था। परिग्रह के लिए ही मणिरथ ने अपने भाई युगबाहु को मार डाला था*। परिग्रह के लिए ही औरंगजेब ने अपने भाइयों की हत्या की थी। कोणिक और चेड़ा का शास्त्रप्रसिद्ध युद्ध भी परिग्रह के लिए ही हुआ था। इसी प्रकार और भी सैकड़ों हजारो उदाहरण ऐसे हैं, जिनसे यह सिद्ध है कि परिग्रह के लिए ही मनुष्य मनुष्य की हत्या करता है और अपने पुत्र पिता भाई माता मामा स्त्री पति आदि को मृत्यु के हवाले कर देता है। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व यूरोप में जो युद्ध हुआ था और जिसमें लाखों करोड़ों मनुष्य मौत के घाट उतरे थे, वह भी परिग्रह के लिए ही हुआ था। मनुष्यों की हत्या करने में सैनिकों को किसी प्रकार का संकोच न हो, इसी विचार से राजा लोग सैनिकों को वास्तविक धर्म-शिक्षा से वंचित रखते हैं और यह शिक्षा देते दिलाते हैं कि युद्ध करके मनुष्यो को मारना ही धर्म है। यह सब परिग्रह के लिए ही किया जाता है। परिग्रह के लिए ही सैनिक लोग राजाओं की—मनुष्यों को मारने जैसी—वीभत्स आज्ञा का पालन करना अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं। परिग्रह के लिए ही युद्ध जैसे महान् पाप को धर्म का रूप दिया जाता है।

यह तो उस हिंसा की बात हुई, जिसका करना 'वीरता' माना जाता है, जो समाज में घृणा की दृष्टि से नहीं देखी जाती, और समाज भी जिसकी निन्दा नहीं करता किन्तु जिस हिंसा के करने वाले को 'वीर' उपाधि से विभूषित करता है। अब उस हिंसा की बात करते हैं जो राज्य द्वारा अपराध मानी जाती है और समाज में भी निन्दित समझी जाती है। चोर डाकू पारदारिक आदि लोग भी परि-

* यहाँ स्त्री की इच्छा भी परिग्रह से ही मानी गई।

ग्रह के लिये ही जन-हिंसा करते हैं। परिग्रह के लिये ही मनुष्य अपनी ही तरह के मनुष्य को बात की बात मे कत्ल कर डालता है, किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करता। अधिक कहाँ तक कहा जावे, संसार में जिनको स्वजन कहा जाता है, परिग्रह के लिये उनकी भी हत्या कर डाली जाती है और आत्म-हत्या का घोर पाप भी परिग्रह के लिये ही किया जाता है।

परिग्रह के लिये स्वयं के शरीर से भी द्रोह किया जाता है। जो व्यवहार शरीर के लिये असह्य है, जिस व्यवहार से शरीर की क्षति होती है, परिग्रह के लिए शरीर के प्रति भी वही व्यवहार किया जाता है और जिस व्यवहार से शरीर सुखी रहता है, पुष्ट तथा सशक्त रहता है, आयु की वृद्धि होती है, उस व्यवहार से शरीर को वंचित रक्खा जाता है। जैसे अधिक, गरिष्ठ और प्रकृति-विरुद्ध भोजन, मैथुन, आदि कार्य तथा नशा शरीर के लिए हानिप्रद है, लेकिन परिग्रह के लिए ऐसे हानिप्रद कार्य भी किये जाते हैं। और सत्य तथा सादा भोजन, सीमित श्रम आदि शरीर के लिए लाभप्रद हैं, फिर भी इनसे शरीर को वंचित रखा जाता है। अर्थात् मिथ्या आहार-विहार द्वारा शरीर के साथ द्रोह किया जाता है, और वह परिग्रह के लिए ही।

शरीर से आगे चलिए। जन्म देनेवाले माता-पिता, प्रिय माने जाने वाले भाई बहन मित्र सम्बन्धी स्त्री पुत्र आदि परिजन के विपय में विचार करने पर मालूम होगा, कि परिग्रह के लिए इन सबसे अथवा इनमें से प्रत्येक के साथ द्रोह किया जाता है। मनुष्य पर माता-पिता के अनन्त उपकार है, परन्तु परिग्रह के लिए उनका भी अपकार किया जाता है। इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं, लेकिन थोड़े ही उदाहरणों से काम चल सकता है, इसलिए कंस कोणिक और औरंगजेब के उदाहरण देना ही प्रर्याप्त है। कंस

ने अपने पिता उग्रसेन को, परिग्रह के लिए ही कारागार में डाल दिया था। कोणिक ने, परिग्रह के लिए ही अपने पिता श्रेणिक को पींजरे में बन्द कर दिया था। और परिग्रह के लिए ही औरंगजेब ने, अपने बूढ़े वाप शाहजहाँ को आगरे के किले मे बन्द करके भूखों-प्यासो मारा था। इसी प्रकार अनेक नर पिशाचो ने, परिग्रह के लिये अपनी जन्मदात्री माता की भी हत्या कर डाली है; उसे भी कष्ट दिया है। योरप के किसी राजा या सेनापति ने, अपनी माता को भी मौत के घाट उतार दिया था।

परिग्रह के लिए माता-पिता द्वारा सन्तान का द्रोह किये जाने के उदाहरण भी बहुत मिलेंगे। परिग्रह के लिए ही पुत्र पुत्री से भेद भाव समझा जाता है और एक को शुभ तथा दूसरे को अशुभ बताया जाता है। परिग्रह के लिए ही सन्तान को दूसरे के हाथ बेचा जाता है, और उसके सुख-दु.ख की चिन्ता नहीं की जाती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की माता ने, परिग्रह के लिए ही* अपने पुत्र ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को लाक्षा गृह में जलाने का प्रयत्न किया था।

परिग्रह के लिए भाई से द्रोह करने के उदाहरण तो सबसे ज्यादा हैं। कौरव-पाण्डव भाई भाई ही थे, लेकिन परिग्रह के लिए आपस में लड़ मरे। औरंगजेब ने अपने भाई दारा शूजा और मुराद को, परिग्रह के लिए ही मार डाला था। और परिग्रह के लिए ही भरत चक्रवती ने, अपने ९८ भाइयो की स्वाधीनता छीनने का प्रयत्न किया था।

परिग्रह के लिये बहन का भाई द्वारा, और भाई का बहन द्वारा द्रोह किये जाने के उदाहरण भी बहुत हैं। इसी-प्रकार मित्रद्रोह भी परिग्रह के लिये होता है। परिग्रह के लिये ही पति द्वारा पत्नी का,

*भोगो मे मूर्छा परिग्रह ही है।

और पत्नी द्वारा पति का द्रोह किया जाता है। सूरिकान्ता रानी ने, अपने पति परदेशी राजा की हत्या परिग्रह के लिये ही की थी। आज भी ऐसे बहुत उदाहरण देखने-सुनने में आते हैं।

समाज का द्रोह भी परिग्रह के लिये ही किया जाता है। परिग्रह के लिये ही ऐसे काम किये जाते हैं, जिनसे समाज का अहित होता है। परिग्रह के कारण जाति और देश से भी द्रोह किया जाता है। आज तक जितने भी देशद्रोही हुए हैं, उन सब ने परिग्रह के लिये ही देशद्रोह किया था। आज भी लोग देशद्रोह करते है, वे परिग्रह के लिय ही। परिग्रह के लिये ही वे कार्य किये जाते हैं, जिनसे देश का अहित होता है।

राजा, प्रजा का रक्षक माना जाता है, लेकिन परिग्रही के लिये वह भी प्रजाद्रोही बन जाता है। परिग्रह के लिये ही वह ऐसे ऐसे नियमोपनियम बनाता है, ऐसे ऐसे कर लगाता है, जो प्रजा को कष्ट मे डालते हैं।

तात्पर्य यह कि संसार मे जितनी भी जनहिसा होती है, वह परिग्रह के लिए ही। इच्छा-मूर्च्छा से प्रभावित व्यक्ति को जनहिंसा करने में, धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य का विचार नहीं होता, न यहीं विचार होता है कि ये मेरे सम्बन्धी अथवा मित्र हैं, मै इनकी हिंसा कैसे करूँ।

यह, जन-हिंसा की बात हुई। अब पशु-पक्षी आदि की हिंसा पर विचार किया जाता है। पशु-पक्षियों की हिंसा भी परिग्रह के लिए ही होती है। दीन मूक और किसी की कोई हानि न करने वाले पशु पक्षियो को भी, मनुष्य इच्छा-मूर्छा की प्रेरणा से ही मारता है। शिकार द्वारा, कत्लखानों, अथवा अन्य प्रकार से पशु-पक्षियो की जो हिंसा होती है, वह सब परिग्रह के लिए ही। चर्म, रक्त, केश, दांत,

चर्बी, मांस अथवा अन्य किसी अवयव के लिए ही, पशु या पक्षी को मारा जाता है। यदि इनमें से किसी की चाह न हो, तो पशु-पक्षियों को मारने का कोई कारण ही नहीं है। जो कोई भी पशु पक्षियों की हिंसा करता है, वह या तो उस पशु-पक्षी के अंगो-पांग दूसरे को बेच कर बदले मे और कुछ लेता है, अथवा स्वयं ही उनको उपयोग में लेता है। दोनों में से किसी भी लिए हो, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि परिग्रह के लिए ही पशुओं और पक्षियो की हिंसा की जाती है और परिग्रह के लिए ही दूसरे जीवों की भी हिंसा की जाती है। बन्ध बध आदि हिंसा के अंग रूप पाप भी परिग्रह के लिए ही होते हैं।

इस प्रकार, परिग्रह के लिए ही हिसा का पाप होता है। छोटे या बड़े, किसी भी जीव की हिसा ऐसी न होगी, जो परिग्रह के लिए न की गई हो। आरम्भादि द्वारा होने वाली हिंसा भी परिग्रह के लिए ही होती है, और महारम्भ द्वारा होने वाली हिंसा तो विशेपत: परिग्रह के लिये ही होती है। मिलों और कारखानो से जो काम होता है, वह काम इनके बिना भी हो सकता था और उस दशा में अनेकों को रोटी भी मिल सकती, परन्तु बढ़ी हुई इच्छा-मूर्छा वाले लोग, मिल और कारखाने स्थापित करके उन कामों को करते हैं, जिनसे बहुतों को होने वाला लाभ एक या कुछ व्यक्ति को ही हो। यद्यपि ऐसा करने से जनता में कंगाली फैलती है, सार्वजनिक कला नष्ट होती है और महारम्भ होता है, लेकिन परिग्रह के लिए इन सब बातों की अपेक्षा नहीं की जाती।

अब झूठ के विषय में विचार करते हैं। झूठ का पाप भी परिग्रह के लिए ही किया जाता है। चाहे सूक्ष्म झूठ हो या स्थूल, उसका उपयोग परिग्रह के लिए ही होता है। परिग्रह के लिए ही शास्त्रो का पाठ और अर्थ बदला जाता है। और शास्त्रों में तात्विक

परिवर्त्तन किया जाता है। परिग्रह के लिए वास्तविकता को छिपाकर कृत्रिमता से काम लिया जाता है। परिग्रह के लिए ही झूठी गवाही दी जाती है, कम तोला नापा जाता है, वस्तु में सम्मिश्रण किया जाता है और सत्य को दबाया जाता है। परिग्रह के लिए ही अच्छी कन्या को बुरी, बुरी कन्या को अच्छी, अच्छे लड़के को बुरा और बुरे लड़के को अच्छा बताया जाता है। परिग्रह के लिए ही ६० के बदले ४५ की और १४ के बदले १८ वर्ष की अवस्था बताई जाती है। इस प्रकार झूठ सम्बन्धी समस्त पाप भी परिग्रह के लिए ही किया जाता है।

चोरी का पाप भी परिग्रह के लिए ही होता है। ऐसी एक भी चोरी न होगी, जो परिग्रह के लिए न की गई हो। इसी प्रकार मैथुन भी परिग्रह के लिए ही होता है।

इस प्रकार चारों वे पाप, जो परिग्रह से पहले के चार आस्रव-द्वार माने जाते हैं, परिग्रह के लिए ही सम्पन्न होते हैं। यदि परिग्रह का पाप न हो तो ऊपर कहे गये चारों पाप भी नहीं हो सकते।

सारांश यह कि संसार के समस्त पाप-कार्य और संसार के समस्त अनर्थ परिग्रह के लिए ही होते हैं। परिग्रह, सब पापों का मूल और सब अनर्थों की खान है। परिग्रह से होने वाले, अथवा परिग्रह के लिए होने वाले पाप और अनर्थ का पूर्णतया वर्णन बहुत ही कठिन है, इसलिए इतना कहकर ही सन्तोष किया जाता है।

अपरिग्रह व्रत ।

परिग्रह से निवर्तने के लिए जो व्रत स्वीकार किया जाता है उसका नाम 'अपरिग्रह व्रत' है। इस व्रत को स्वीकार करने से इहलौकिक लाभ भी है और पारलौकिक लाभ भी। इस व्रत को स्वीकार करने पर आत्मा, समस्त पापो से निवृत्त हो जाता है। वह रागद्वेषरहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार जन्म-मरण के कष्ट से छूट जाता है। जन्म-मरण का मूल हेतु रागद्वेष ही है। अपरिग्रह होने पर राग-द्वेष मिट जाता है, इसलिए फिर जन्म-मरण नहीं करना पड़ता। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर, अनन्तानुबन्धी चौकड़ी, अप्रत्याख्यानी चौकड़ी और प्रत्याख्यानी चौकड़ी का निरोध हो जाता है, इससे जन्म-मरण और नरकादि के दुःख से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। परिग्रह के कारण आत्मा जन्म-मरण के जिस बन्धन में है, परतन्त्रता की जिस जंजीर से जकड़ा हुआ है, अपरिग्रह-व्रत स्वीकार कर लेने पर उस बन्धन और परतन्त्रता से भी छूट जाता है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर ही, पूर्णतया धर्माराधन

हो सकता है और तभी कामना रहित तथा शुद्ध रीति से परमात्मा का भजन भी किया जा सकता है।

परिग्रह से सर्वथा विरत होने के लिए, पहले आभ्यन्तर परिग्रह से विरत होने की आवश्यकता है। जब तक आभ्यन्तर परिग्रह है, तब तक बाह्य परिग्रह से विरत होने का विचार तक नहीं हो सकता। बल्कि आभ्यन्तर परिग्रह का आधिक्य होने पर मनुष्य, किसी वस्तु बात या विचार को परिग्रह रूप मान ही नहीं सकता, जिसकी गणना परिग्रह मे है। 'यह परिग्रह है' ऐसा विचार तभी हो सकता है, जब आभ्यन्तर परिग्रह का जोर कम हुआ होगा। इसलिए सर्व-प्रथम आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्त होने की आवश्यकता है। आभ्यन्तर परिग्रह से आत्मा जितने अंश में निवृत्त होता जाएगा, उतने ही अंशों मे बाह्य परिग्रह से भी। और जब आभ्यन्तर परिग्रह से बिलकुल विरत हो जावेगा, तब बाह्य परिग्रह भी न रहेगा।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन सुनने का लाभ, परिग्रह का त्याग और अपरि-ग्रह व्रत का स्वीकार ही है, जिसके स्वीकार किये बिना, निर्ग्रन्थ-प्रवचन का पालन नहीं हो सकता। और जब तक निर्ग्रन्थ प्रवचन का पूर्णतया पालन नहीं किया जाता, तब तक जन्म मरण से नहीं छूटा जा सकता। इस दृष्टि से भी, परिग्रह त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार करना आवश्यक है।

शास्त्र का कथन है, कि जब तक इन्द्रिय-भोग के पदार्थ न छूटें तब तक जन्म-मरण भी नहीं छूट सकता। इन्द्रिय-भोग के पदार्थों के प्रति जब तक किंचित् भी ममत्व है, तब तक जन्म-मरण भी है, और जिन्हें इन्द्रियाँ प्रिय मानती हैं, उन पदार्थों का ममत्व ही परि-ग्रह है। संसार-चक्र से निकलने की इच्छा रखने वाले के लिए यह आवश्यक है, कि इन्द्रिय द्वारा भोग्य पदार्थ रूप परिग्रह का त्याग करके अपरिग्रह व्रत स्वीकार करे।

इस प्रकार अपरिग्रह व्रत को स्वीकार तथा उसका पालन करने से, पारलौकिक लाभ जन्म-मरण से छूटना और मोक्ष प्राप्त करना है। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने पर, जन्म-मरण का भय भी छूट जाता है और किसी प्रकार का कष्ट भी नहीं रहता है।

इस व्रत को स्वीकार करने से इहलौकिक लाभ भी बहुत हैं। जो इस व्रत को स्वीकार करता है, उसकी ओर से संसार के समस्त प्राणी निर्भय हो जाते हैं और व्रत स्वीकार करने वाला भी सब तरह से निर्भय हो जाता है। फिर उसको किसी भी ओर से, किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। उसको न तो राज-भय रहता है, न चोर भय रहता है, न अग्नि रोग आदि किसी अन्य प्रकार का ही भय रहता है। उसके प्रति संसार के समस्त जीव विश्वास करते हैं, और वह भी सब का विश्वास करता है, तथा सब जीवों के प्रति समदृष्टि रखता है, एवं सभी को अपना मित्र मानता है। उसके हृदय में शत्रु और मित्र का भेद नहीं रह जाता। लोगो में वह, आदर पात्र माना जाता है। उसके समीप, किसी प्रकार की चिन्ता तो रहती ही नहीं है।

संसार का ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो कभी न छूटे। छोड़ने की इच्छा न रहने पर भी, संसार के पदार्थ तो छूटते ही हैं। लेकिन यदि संसार के पदार्थों को इच्छा-पूर्वक छोड़ा जाएगा, तो दुःख भी न होगा, तथा प्रशंसा भी होगी। और इच्छा-पूर्वक न छोड़ने पर, संसार के पदार्थ छूटेंगे तो अवश्य ही, परन्तु उस दशा में हृदय को अत्यन्त खेद होगा तथा लोगों में निन्दा भी होगी।

सांसारिक पदार्थों को स्वयं त्यागने से, एक लाभ और भी है। भावी सन्तति भी सांसारिक पदार्थों का विश्वास न करेगी, किन्तु

उन्हें त्याज्य मानेगी। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों को स्वयं ही त्यागने से, भावी सन्तान को भी लाभ होगा।

सांसारिक पदार्थों से आत्मा का कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है और यह छूटने वाले हैं, यह जानकर ही धन्ना, शालिभद्र और भृगु पुरोहित आदि ने अपनी विशाल सम्पत्ति त्याग दी थी। पूर्व के अनेक मुनि महात्माओं एवं महापुरुषों ने, संसार के किसी पदार्थ से इसी कारण ममत्व नहीं किया और बड़ी सम्पत्ति, बड़ा परिवार तथा विशाल राज्य भी तृणवत् त्याग दिया। वे जानते थे, कि हम ध्रुव (आत्मा) की उपेक्षा करके अध्रुव (पदार्थ) लेने जावेंगे, तो जो अध्रुव हैं वे तो छूटेंगे ही, साथ ही ध्रुव आत्मा की भी हानि होगी। वे इस बात को समझ चुके थे; कि इन्द्रियों को सुखदायक जान पड़ने वाले सांसारिक पदार्थ, इन्द्रियों की अपेक्षा तुच्छ हैं। इन्द्रियों में जो शक्ति है, वह सांसारिक पदार्थों से बहुत बढ़कर है। इसलिए इन्द्रियों को सांसारिक पदार्थ के भोगोपभोग में डाल कर उन की शक्ति का दुरुपयोग करना, उसे नष्ट करना अनुचित है। और इन्द्रियों से बढ़कर, मन है। इसलिए इन्द्रियों के पीछे मन की शक्ति नष्ट करना भी मूर्खता है। जिन पदार्थों में इन्द्रियाँ सुख मानती हैं, उन पदार्थों को चाहना और मन को इन्द्रियानुगामी बनाना हानिप्रद है। इन्द्रिय और मन से बड़ा, आत्मा है। इसलिए इन्द्रिय और मन को आत्मा के अधीन रखकर, इनके द्वारा वे ही कार्य करने चाहिये जिनसे आत्मा का हित हो। यह जानने के कारण ही उन्होंने पदार्थों से ममत्व नहीं किया, किन्तु प्राप्त पदार्थों को त्याग कर अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया।

परिग्रह में सुख मानना भारी अज्ञान है। जो परिग्रह में सुख मानता है वह परिग्रह को कदापि नहीं त्याग सकता। परिग्रह को

सर्वथा या आंशिक रूप से वही त्याग सकता है, जो उसे दुःख का कारण जानता है और रानी कमलावती की तरह बन्धन रूप मानता है। भृगु पुरोहित द्वारा त्यक्त धन जब राजा इक्षुकार के यहाँ आ रहा था, तब राजा इक्षुकार की रानी कमलावती ने अपने पति से कहा था, कि आप यह क्या कर रहे हैं! आप दूसरे द्वारा त्यागे गये धन को अपनाकर, वमन की हुई वस्तु को खाने के समान कार्य क्यों कर रहे हैं! आप यदि यह कहते हों कि ऐसा विचारा जावे तो फिर धन कहाँ से आवेगा और यह साज शृंगार तथा ठाट बाट कैसे निभेगा, तो इसके उत्तर में मैं यही कहती हूँ, कि मैं इस समस्त साज-शृंगार और ठाट बाट को बन्धन रूप ही मानती हूँ।

नाहं रमे पक्खिणि पंजरे वा संताण छिन्ना चरिस्सामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारंभ नियत्त दोसा ॥

अर्थात्—हे महाराजा, जिस प्रकार पींजरे में पक्षी आनन्द नहीं मानता, उसी प्रकार मैं भी इस राज सम्पदा मे आनन्द नहीं मानती। किन्तु जिस प्रकार सोने का बना हो अथवा लोहे का बना हो, पक्षी के लिए पींजरा बन्धन रूप ही है, उस पींजरे से मुक्त होने पर ही पक्षी स्वयं को सुखी मानता है, परन्तु विवश होकर परतन्त्रता का दुःख भोगता है, उसी प्रकार मैं भी इस राज्यवैभव को अपने लिए बन्धन रूप ही समझती हूँ। मैं यह मानती हूँ, कि चाहे महान् सम्पत्ति हो या अल्प दोनों ही बन्धन रूप हैं। बल्कि जिसके पास जितनी अधिक सम्पत्ति है, वह उतने ही अधिक बन्धन में है। इसलिए अब मैं आरम्भ-परिग्रह त्याग कर, विषय कषाय रूप मांस से रहित होकर और स्नेह जाल को तोड कर संयम लूँगी, तथा सरल कृत्य करती हुई स्वतन्त्र पक्षी की तरह विचरण करूँगी।

इसी प्रकार रानी कमलावती ने परिग्रह को बन्धन तथा दुःख का कारण माना और परिग्रह को त्याग कर अपने पति सहित संयम स्वीकार कर लिया। रानी कमलावती की ही तरह जो व्यक्ति परिग्रह को बन्धन मानता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है। जो परिग्रह को सुख का कारण समझता है, वह उसे कदापि नहीं त्याग सकता।

अब यह देखते है, कि अपरिग्रह व्रत का पालन कब हो सकता है? कोई भी व्यक्ति अपरिग्रही तभी बन सकता है, जब वह अपने मे से इच्छा को बिलकुल ही निकाल दे। उसमें किसी पदार्थ की लालसा रहे ही नहीं। जब तक किसी भी पदार्थ की लालसा है, तब तक कोई भी व्यक्ति अपरिग्रही नहीं हो सकता। जिसमें लालसा है—उसके पास कोई स्थूल पदार्थ न हो तब भी—वह परिग्रही ही है। हृदय मे पदार्थों की लालसा बनी हुई है, लेकिन पदार्थों के प्राप्त न होने से जो स्वयं को अपरिग्रही कहता या समझता है, वह अपरिग्रही नहीं है किन्तु परिग्रही ही है। दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन में कहा है, कि पदार्थ की लालसा तो है, परन्तु पदार्थ के न मिलने से वह त्यागी बना हुआ है और पदार्थ को भोग नहीं सकता है, वह त्यागी नहीं है, किन्तु भोगी ही है। भगवती सूत्र में भी गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है, कि सेठ और दरिद्री को अव्रत की क्रिया बराबर ही लगती है। सेठ के पास बहुत पदार्थ हैं और दरिद्री के पास कुछ भी नहीं है, फिर भी दोनों को समान रूप से अव्रत क्रिया लगने का कारण यही है कि दरिद्री के पास पदार्थ तो नहीं हैं, लेकिन उसमे पदार्थ की लालसा है। इसी कारण दोनों को समान अव्रत की क्रिया लगती है।

मतलब यह कि अपरिग्रही होने के लिए लालसा मिटाने और सन्तोष करने की आवश्यकता है। लालसा की उत्पत्ति का कारण

इन्द्रियों की काम-भोग मे प्रवृत्ति होगी, अथवा ऐसा करना चाहेगे तब ससार के पदार्थों की लालसा भी होगी। मन की चंचलताके कारण ही, इन्द्रियाँ विषयो की ओर दौड़ती हैं। यदि मन चंचल न हो, किन्तु स्थिर हो और वह इन्द्रियो का साथ न दे, तो इन्द्रियाँ विषय भोग की ओर न दौड़ें। मन की चंचलता के कारण ही, इन्द्रियाँ विपय-भोग की ओर दौड़ती हैं और फिर लालसा होती है। मन की चंचलता के कारण, ज्ञान का अभाव है। इन्द्रियाँ कौन हैं, उनका आत्मा से क्या सबंध है और संसार के पदार्थों का रूप कैसा है, आदि बातें न जानने के कारण ही मन मे चचलता रहती है। इसलिए अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने एवं उसका पालन करने के लिए, सबसे पहले संसार के पदार्थों का रूप और स्वभाव समझ कर मन को स्थिर करने, इन्द्रियों को बहिर्मुखी एवं भोग लोलुप न होने देने, और सांसारिक पदार्थों की ओर से निस्पृह तथा निर्मम रहने की आवश्यकता है। शरीरादि जो पदार्थ प्राप्त हैं, और जिनको त्यागा नहीं जा सकता, उनकी ओर से तो निर्ममत्व रहे, और जो पदार्थ अप्राप्त है, उनकी ओर से निस्पृह रहे। शरीर की ओर से भी किस प्रकार निर्ममत्व रहे, इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र के १६ वें अध्ययन मे कहा है:—

वासीचंदनकप्पो य असणे अणसणे तहा।

अर्थात्—शरीर पर चाहे चंदन का लेप किया जावे, अथवा शरीर को वसूले से छीला जावे दोनो अवस्थाओ में सुख दुःख न मान कर प्रसन्न ही रहे, और जो ऐसा करता है, उसके प्रति रागद्वेष भी न आने दे। इसी प्रकार मानापमान मे भी समभाव ही रखे।

इस प्रकार संतुष्ट निस्पृह और निर्ममत्व रहने पर ही, अपरिग्रह व्रत का पालन हो सकता है।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार और पालन करने वाले, निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। निर्ग्रन्थ का अर्थ है, किसी प्रकार की ग्रन्थि-गांठ या बन्धन में न रहना। परिग्रह बन्धन है। जो इस बन्धन को तोड़ देता है, वह निर्ग्रन्थ और मोक्ष का पथिक है। मोक्ष प्राप्ति के लिए शास्त्र में जो पॉच महाव्रत बताए गये है. उनका पालन निग्रन्थ ही कर सक्ता है, और पच महाव्रतों का पालन करने वाला ही निर्ग्रन्थ है। यद्यपि पच महाव्रत में अपरिग्रह भी एक महाव्रत है, लेकिन यह महाव्रत सबसे बडा, दुष्कर और प्रथम के चार महाव्रतों से पूर्ण सम्बन्ध रखने वाला हैं। जो इस महाव्रत का पालन करता है, वही इससे पहले के चार महाव्रतों का पालन कर सकता है और जो प्रथम के चार महाव्रतों का पालन करता है, वही इस महाव्रत का भी पालन कर सकता हैं। पांचो महाव्रत परस्पर अत्यधिक घनिष्ठ संबंध रखते हैं। यदि विचार किया जाय तो प्रथम के चार महाव्रत इस पांचवे महाव्रत में ही आ जाते है। बल्कि ब्रह्मचर्य नाम का चौथा महाव्रत तो भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक अपरिग्रह व्रत में ही माना जाता था, जिसे भगवान् महावीर ने अलग करके चार महाव्रतो के बदले पाच महाव्रत बताये हैं।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने वाले सब प्रकार इच्छा भी त्याग देते हैं, और शरीरादि जिन आवश्यक पदार्थों को वे नहीं त्याग सके हैं, उनके प्रति भी मूर्छा नहीं रखते। इच्छा और मूर्छा, उनके समीप होती ही नही है। वे अपने शरीर अथवा धर्मोपकरण के प्रति भी ममत्वहीन ही रहते है। न स्वयं के पास ही कोई पदार्थ रखते हैं, न दूसरे के पास ही। यदि रखते हैं, तो केवल वे ही धर्मोपकरण रखते हैं, जिन्हे रखने के लिये शास्त्र में आज्ञा दी गई है। उनके सिवा कोई भी पदार्थ नहीं रखते।

यहाँ ये प्रश्न होते हैं कि निर्ग्रन्थ साधु धर्मोपकरण तथा शास्त्रादि क्यों रखते हैं ? क्या उनकी गणना परिग्रह में नहीं है ? इसी प्रकार वस्त्र रखने की भी क्या आवश्यकता है ? जब तक वस्त्र हैं तब तक कैसे कहा जा सकता है, कि 'परिग्रह नहीं है' ? और जब परिग्रह है, तब निर्ग्रन्थ कैसे हुए, और मोक्ष कैसे जा सकते हैं ? जो निर्ग्रन्थ हैं, उन्हें तो दिगम्बर रहना चाहिये और अपने पास वस्त्र या धर्मोपकरण आदि कुछ भी न रखने चाहिएँ।

इन प्रश्नों का समाधान करने लिए पहले कही हुई इस बात को ठुकरा देना आवश्यक है, कि पदार्थ का नाम परिग्रह नहीं, किन्तु उन पर ममत्व का नाम परिग्रह है। साधु लोग जो वस्त्र पात्र और धर्मोपकरण रखते हैं, उन्हें वे परिग्रह व्रत बताने वाले भगवान् तीर्थङ्कर की आज्ञा से ही रखते हैं, उनकी आज्ञा के विरुद्ध नहीं रखते। भगवान् तीर्थङ्कर ने, साधक के लिए जिन वस्तुओं का त्यागना कठिन और रखना आवश्यक समझा, उन वस्तुओं के रखने का विधान कर दिया और मर्यादा बना दी कि साधु इतने वस्त्र इतने पात्र और अमुक-अमुक धर्मोपकरण ही रख सकता है, जो इससे अधिक लम्बे चौड़े या भारी न हो और मर्यादानुसार रक्खे गये वस्त्र पात्र आदि में भी ममत्वभाव न हो। इस प्रकार भगवान् ने जिनके रखने का विधान किया है, वे ही वस्त्र पात्रादि रखे जा सकते हैं, दूसरे या अधिक नहीं रखे जा सकते। यदि कोई उस मर्यादा से अधिक रखता है, अथवा मर्यादानुसार रखकर भी उनसे ममत्व करता है, तो वह अवश्य ही परिग्रही माना जावेगा। भगवान् त्रिकालदर्शी थे वे जानते थे कि यदि मैं इस प्रकार का विधान करूँगा और मर्यादा न बांध दूँगा तो आगे जाकर बहुत अनर्थ होगा तथा अपरिग्रही रहने के नाम पर वह कार्यवाही होगी, जैसी कार्यवाही परिग्रही ही कर सकता है। इसलिये भगवान ने वस्त्र पात्र रखना

सामान्यतः आवश्यक बता दिया है और जिन धर्मोपकरण का रखना आवश्यक बताया है आगे चलकर—उच्च दशा में-वे भी त्याज्य बताये हैं। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने के पश्चात् भी मर्यादानुसार जिन वस्त्रो का रखना आवश्यक है, उच्च दशा में पहुँचने पर उन सब को भी क्रमशः त्यागने का, भगवान् ने विधान किया है।

भगवती सूत्र मे व्युत्सर्ग का वर्णन आया है। व्युत्सर्ग का अर्थ त्याग है। मन वचन और काय द्वारा बुरे कामों को त्याग देना व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद बताये गये है। ये दोनो भेद, द्रव्य और भाव व्युत्सर्ग के नाम से भी कहे जाते हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं, और भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं। द्रव्य व्युत्सर्ग के, शरीरोत्सर्ग, गणोत्सर्ग, उपधि व्युत्सर्ग और भात पानी व्युत्सर्ग ये चार भेद हैं। भाव व्युत्सर्ग के, कषाय-व्युत्सर्ग, संसार व्युत्सर्ग, और कर्म व्युत्सर्ग, ये तीन भेद हैं। मोक्ष तो भाव व्युत्सर्ग से ही होता है, लेकिन भाव व्युत्सर्ग के लिए द्रव्य-व्युत्सर्ग का होना आवश्यक है। द्रव्यव्युत्सर्ग के विना भाव व्युत्सर्ग तक नहीं पहुँच सकता। यहाँ व्युत्सर्ग विषयक समस्त बातों का वर्णन आवश्यक नहीं है, यहाँ तो केवल यह बताना है, कि मुनि के लिए—आगे चलकर-शरीर, गण, (गच्छ या सम्प्रदाय) उपधि (वस्त्र पात्र धर्मोपकरणादि) और भात पानी, ये सब भी त्याज्य हैं। जब तक साधन का प्रारम्भ है, तभी तक इनका रखना आवश्यक है, और जैसे जैसे आगे बढ़ता जावे, वैसे ये भी त्याज्य हैं। आगे चल कर शरीर गच्छ उपधि और भोजन—पानी को भी त्याग दे। इस प्रकार 'उच्च दशा में पहुंचे हुओ के लिए तो शरीर वस्त्र उपधि भण्डोपकरण आदि सभी वस्तु त्याज्य हैं,—वह तो जिन कल्पी ही रहता है—लेकिन जब तक ऐसी क्षमता नहीं है, तब तक के लिए भगवान् ने वस्त्र पात्र आदि की मर्यादा बता दी है, और उस मर्यादानुसार वस्त्र पात्र आदि

रखने का विधान कर दिया है। यदि भगवान् इस प्रकार का विधि—विधान न करते, तो आज के साधुओं को केवल कठिनाई ही न होती, किन्तु उनके द्वारा ऐसे कार्य होते, शरीर—रक्षा आदि के लिए वे ऐसे काम करते, जो वस्त्र पात्रादि रखने के कार्यों से भी बढ़ कर होते।

भगवान् ने मुनि के लिए मर्यादानुसार वस्त्र रखने का विधान किया है, और वे मर्यादानुसार वस्त्र रखते भी हैं, फिर भी वे नग्न भावी ही हैं। क्योंकि, उन्हें वस्त्रों से न तो ममत्व ही होता है, न वे अधिक वस्त्र ही रखते हैं। इसलिए वस्त्र होने पर भी वे, भाव में नग्न भावी-अर्थात् नग्न ही माने जाते हैं। उच्च दशा में पहुँचने पर वे उन थोड़े से वस्त्रों को भी त्याग सकते हैं, लेकिन इससे पहले ही वस्त्र त्याग देना, व्यावहारिक दृष्टि से भी उचित नहीं है। शरीर और गण का व्युत्सर्ग पहले बताया है, और उपधि का व्युत्सर्ग उसके पश्चात् है। जब शरीर पर बिलकुल ममत्व न रखे, और सम्प्रदाय से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे, किन्तु असंग रहता हो अर्थात् वन में या गुफाओं में निवास करता हो, तभी उपधि का व्युत्सर्ग कर सकता है। शरीर से तो ममत्व हो, शरीर की रक्षा का प्रयत्न तो करता हो, लेकिन गच्छ को छोड़ बैठे, अथवा शरीर से भी ममत्व है और गच्छ में भी है,, चेला-चेलनी अनुयायी आदि बनाते रहते हैं, और वस्त्र पात्र आदि उपधि छोड़ बैठे, तो वह वैसा ही कार्य होगा, जैसा कार्य पगड़ी पहने रहने और धोती त्याग देने का हो सकता है।

तात्पर्य यह कि शास्त्र में जिनकी आज्ञा दी गई है, उन वस्त्र पात्रादि धर्मोपकरणों को रखने के कारण, निर्ग्रन्थ लोग परिग्रही नहीं कहे जा सकते। निर्ग्रन्थ होने पर भी किसी को कब परिग्रही कहा जा सकता है, और निर्ग्रन्थ भी किस प्रकार परिग्रही हो जाता है, यह बात थोड़े में बताई जाती है।

बहुत से लोग, अपरिग्रह व्रत स्वीकार कर और संसार के स्थूल पदार्थों का ममत्व त्याग कर भी, फिर परिग्रह मे पड़ जाते है। वे स्थूल पदार्थों का ममत्व तो छोड़ देते हैं। लेकिन उनके हृदय मे मान बड़ाई आदि की चाल बनी रहती है, अथवा बढ़ जाती है। कहावत ही है—

कंचन तजिवो सरल है, सरल तिरिया को नेह।
मान बढ़ाई ईर्षा, दुर्लभ तजिवो येह ॥

अर्थात्—कनक कामिनी को छोड़ना कठिन नहीं है, लेकिन मान बड़ाई की चाह और ईर्षा को त्यागना बहुत ही कठिन है।

संसार मे कनक (सोना) त्यागना बहुत ही कठिन माना जाता है। यद्यपि सोना खाने या शीत ताप वर्षा से बचने के काम का पदार्थ नहीं है, न उसमें गन्ध ही है, फिर भी वह बहुत मोहक पदार्थ है, और इसका एकमात्र कारण यही है कि आज विनिमय (लेनदेन या बदला बदली) सोने के आश्रित है। सोना पास हो तो, संसार की सभी वस्तु चीजें प्राप्त हो सकती हैं, तथा सोना ऐसी धातु है कि चाहे हजारों वर्ष तक पृथ्वी मे दबी रहे, तब भी न सड़ती है, न गलती है, न खराब होती है। यही कारण है कि लोगों को सोने से बहुत ममत्व होता है, तथा सोने का त्याग कठिन माना जाता है। जो सोने का त्याग कर देता है, उसने जैसे सोने द्वारा प्राप्त होने वाले संसार के सब पदार्थों का त्याग कर दिया है, और जो संसार के किसी भी पदार्थ से ममत्व करता है, वह सोने से कदापि ममत्व नहीं त्याग सकता। सांसारिक लोग, सोने में विशेषता देखकर ही उससे ममत्व करते हैं, और इसी से सोना, मोहक माना जाता है। सोने के पश्चात्, स्त्री मोहिनी मानी जाती है। कोई कोई ऐसे भी होते हैं कि जो सोने से तो ममत्व त्याग देते हैं, लेकिन उन से स्त्री का ममत्व

त्यागना बहुत कठिन होता है। कदाचित् कोई सोने और स्त्री से ममत्व त्याग भी दे, इनको छोड भी दे, लेकिन तुलसीदासजी के कथनानुसार मान बड़ाई तथा ईर्षा का छोड़ना बहुत कठिन होता है, और जब तक इनका सद्भाव है, तब तक "परिग्रह छूटा है" ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, एक तो ममत्व का नाम ही परिग्रह है दूसरे, जहाँ मान बड़ाई की चाह और ईर्षा है, वहाँ सभी पाप सम्भव हैं।

अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने वाले कई साधु, मान बड़ाई की चाह में पड़ जाते हैं और इस कारण दूसरे से ईर्षा करने लग जाते हैं। मान बड़ाई की चाह से वे लोग ऐसे ऐसे कार्य कर डालते हैं, जिनका वर्णन करना कठिन एवं आपत्तिजनक है। इसलिए इतना ही कहा जाता है कि अपरिग्रह व्रत का पालन करने के लिए मान बडाई की चाह को हृदय से निकाल देना आवश्यक है। यदि इस प्रकार की चाह बनी हुई है तो फिर अपरिग्रह व्रत भी नहीं है।

यहाँ आजकल के साधुओं की कुछ समालोचना करना अप्रासांगिक न होगा। आजकल के बहुत से साधु-अथवा साध्वी और सब कुछ तो त्याग देते हैं, लेकिन शिष्य-शिष्या की इच्छा मूर्छा तो उन्हें दबा ही डालती है। शिष्य-शिष्या की इच्छा मूर्छा की प्रेरणा से, उनके द्वारा ऐसे ऐसे कृत्य भी हो जाते हैं, कि जैसे कार्य सन्तान की इच्छा मूर्छा वाले गृहस्थ से भी न होते होंगे। यद्यपि शिष्य-शिष्या की इच्छा मूर्छा रखने वाले साधु-साध्वी प्रकट में यह अवश्य कहते हैं, कि हम धर्म या सम्प्रदाय की वृद्धि के लिए ऐसा करते हैं, परन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा, शिष्य शिष्या की इच्छा मूर्छा वाले साधु-साध्वी में, और सन्तान की मूर्छा वाले गृहस्थ स्त्री पुरुष में क्या अन्तर रहा ? इच्छा मूर्छा की दृष्टि से तो दोनों समान ही ठहरते हैं, और धर्म वृद्धि का कहना तो एक बहाना मात्र है। हाँ

कोई कोई महात्मा ऐसे भी हैं जो धर्म वृद्धि के लिए ही शिष्य शिष्या बनाते हैं, लेकिन उनमें शिष्य शिष्या की इच्छा मूर्छा नहीं होती।

शिष्य-शिष्या की ही तरह, कई साधु-साध्वियों के लिए, सम्प्रदाय और उसकी रूढ़ि परम्परा भी परिग्रह रूप हो जाती है। यह मेरी सम्प्रदाय या परम्परा है, इसलिए चाहे यह सम्प्रदाय या परम्परा ठीक न भी हो, तब भी मैं इसकी वृद्धि ही करूँगा, इसकी रक्षा का ही प्रयत्न करूँगा, कहीं किसी के द्वारा मेरी सम्प्रदाय की कोई क्षति न हो जावे, मुझे अपनी रूढ़ि परम्परा न त्यागना पड़े आदि प्रकार की चिन्ता और ऐसा भय भी परिग्रह रूप ही है। इसी प्रकार विद्या सूत्र ज्ञान आदि भी, कभी कभी परिग्रह रूप हो जाता है। मैं इतने सूत्रों का जानकार हूँ, मैं अमुक-अमुक विद्या जानता हूँ आदि अहंभाव, विद्या और सूत्र ज्ञान को भी परिग्रह रूप बना देता है।

कुछ साधुओं को समाज के धन की भी चिन्ता रहती है। मेरे अनुयायियों का धन खर्च होता है, इस विचार से कई साधु चिन्तित रहते हैं, और अनुयायियों के धन की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। यह भी एक परिग्रह ही है, यदि इसको परिग्रह न कहा जावेगा, तो कुटुम्ब का वृद्ध आदमी अपने कुटुम्ब के द्रव्य की रक्षा की जो चिन्ता करता है—जो प्रयत्न करता है—वह भी परिग्रह न कहा जावेगा।

कुछ साधुओं को अपनी प्रसिद्धि की बहुत इच्छा रहती है। इसके लिए वे स्वयं ही, अथवा अनधिकारियों या अनुयायियों द्वारा कोई उपाधि प्राप्त करके अपने नाम के साथ उपाधि लगा लेते है, लेख और पुस्तकें दूसरों से लिखवा कर अपने नाम से प्रकाशित करवाते है, सामाजिक कार्यों में भी भाग लेते है, अथवा ऐसे ही अन्य कार्य भी करते हैं। लेकिन वस्तुतः प्रसिद्धि की इच्छा भी,

परिग्रही ही है। जब तक इस प्रकार का भी परिग्रह है, तब तक अपरिग्रह व्रत का पूर्णतया पालन हो ही नहीं सकता। अपरिग्रह व्रत का पालन तो तभी हो सकता है, जब हृदय में किसी भी प्रकार की चाह न रहे, किसी भी वस्तु से ममत्व न हो, किसी भी प्रकार की चिन्ता न हो, न किसी भी तरह का भय ही रहे, किन्तु निस्पृह ममत्व तथा चिन्ता भय रहित रहे। साथ ही भगवान् की आज्ञा से जो वस्त्र पात्र एवं उपधि रखता है, जिस सम्प्रदाय (गच्छ) में रहकर धर्म साधन करता है, और जिस शरीर में आत्मा बस रहा है, उसके लिए भी यह भावना करता रहे कि मैं इन सब से भी ममत्व न रखूँगा, तथा वह दिन कब होगा, जब मैं जीवन के लिए आवश्यक माना जाने वाला अन्न पानी भी त्याग दूँगा और जीवन मुक्त हो जाऊँगा। और जो इस प्रकार रहता है, वही अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला है। इस व्रत को जिसने स्वीकार किया है, उसके हृदय में संयोग वियोग का सुख दुःख तो होना ही न चाहिए, न स्वर्गादि के सुखो की अभिलाषा ही होना चाहिए।

———

इच्छापरिमाण व्रत ।

परिग्रह का रूप और उससे होने वाली हानि का वर्णन किया जा चुका है। साथ ही अपरिग्रह व्रत का रूप भी बताया जा चुका है। सर्वथा आत्म कल्याण की इच्छा रखने वाले के लिए तो अपरिग्रही बनना और किसी भी सांसारिक पदार्थ के प्रति इच्छा मूर्छा न रखना ही आवश्यक है, लेकिन जो लोग संसार व्यवहार में बैठे हुए हैं, वे भी क्रमशः मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकें, इसलिए भगवान् ने ऐसे लोगों के वास्ते इच्छा परिमाण व्रत बताया है। संसार-व्यवहार में रहने वाले लोगों के लिए, सांसारिक पदार्थों का सर्वथा त्याग होना कठिन है। उनसे इच्छा और मूर्छा का बिलकुल अभाव नहीं हो सकता, न वे सांसारिक पदार्थों से असंग ही रह सकते हैं। संसार-व्यवहार में रहने के कारण, उनके लिए सांसारिक पदार्थों का संग्रह और सांसारिक पदार्थों के प्रति इच्छा मूर्छा का होना भी स्वाभाविक समझा जाता है। संसार में कहावत भी है, कि 'साधु के पास कौडी हो तो कौड़ी का, गृहस्थ के पास कौडी न हो तो वह कौड़ी

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न संभाषते ।
भृत्यः कुप्यति नानुगच्छति सुतः कान्ता च नालिंगते ॥
अर्थप्रार्थनशंकया न कुरुते ऽप्यालापमात्रं सुहृत् ।
तस्मादर्थमुपार्जयस्व च सखे ! ह्यर्थस्य सर्वे वशाः ॥

अर्थात्—धन न होने पर, माता निन्दा करती है पिता आदर नहीं करता, भाई बोलते नहीं हैं, स्त्री स्पर्श नहीं करती, और 'यह कुछ मांगने न लगे' इस भय से मित्र लोग कोरी बात भी नहीं करते। इसलिए हे मित्र, धन कमाओ। सब लोग धन के ही वश हैं।

इस प्रकार जैसे संसार व्यवहार से निकले हुए साधु के लिए किसी भी सांसारिक पदार्थ का रखना निन्द्य समझा जाता है, उसी प्रकार सांसारिक लोग उस संसार-व्यवहार में रहे हुए की निन्दा अवहेलना करते हैं, जो सांसारिक पदार्थों से हीन है। जो संसार-व्यवहार में है, उसके लिए सांसारिक पदार्थों का संग्रह आवश्यक माना जाता है, और दूसरी ओर धर्मशास्त्र सांसारिक पदार्थों को त्याज्य बतलाते हैं। ऐसी दशा में गृहस्थों के लिए ऐसा कौन-सा मार्ग रह जाता है, जिसको अपनाने पर वे संसार-व्यवहार में हीन दृष्टि से भी न देखे जावें, और धार्मिक दृष्टि से भी पतित न समझे जावें? इस बात को दृष्टि में रखकर ही, भगवान् ने इच्छा-परिमाण व्रत बताया है। भगवान् जानते थे कि गृहस्थ लोग इच्छा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, और जिस दिन वे इच्छा का सर्वथा त्याग कर देंगे, उस दिन से संसार-व्यवहार में रहना भी त्याग देंगे, या संथारा कर लेंगे। लेकिन संसार-व्यवहार मे रहते हुए इच्छा का सर्वथा निरोध कठिन है। ऐसी दशा मे यदि उन्हे भी अपरिग्रह व्रत ही बताया जावेगा, तो उनसे अपरिग्रह व्रत [illegible] भी न होगा और दूसरी

और उनके द्वारा अनेक अनर्थ भी होगे तथा उन्हें कठिनाई भी उठानी होगी। इसलिए जब तक उनमें संसार-व्यवहार से सर्वथा निकलने की क्षमता न हो, उनमें पूर्ण सन्तोष और पूर्ण धैर्य न हो, तब तक उन्हे अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने को कहना उन पर ऐसा बोझ डालना है, जिसे वे उठा नहीं सकते। इस प्रकार के विचारों से भगवान् ने, गृहस्थों के लिए इच्छापरिमाण व्रत बताया है।

इच्छा परिमाण व्रत का अर्थ है, सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली इच्छा को सीमित करना। यह निश्चय करना कि मैं इतने पदार्थों से अधिक की इच्छा नहीं करूँगा। इस प्रकार की जो प्रतिज्ञा की जाती है, उसका नाम 'इच्छा परिमाणव्रत' है। अपरिग्रह व्रत को स्वीकार करने के लिए ससार के समस्त पदार्थों से विरमण करना होता है, संसार के समस्त पदार्थ त्यागने होते है, अपरिग्रही होना होता है, लेकिन इच्छापरिमाणव्रत स्वीकार करने के लिए संसार के समस्त पदार्थ नहीं त्यागने पड़ते। हाँ, वे पदार्थ तो अवश्य त्यागने होते हैं, जिनकी गणना महान् परिग्रह में है। इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करने वाले को इस बात की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि मैं इन पदार्थों से अधिक पदार्थ अपने अधिकार मे न रक्खूँगा, और इन पदार्थों के सिवा किसी पदार्थ की इच्छा भी न करूँगा। इस प्रकार आंशिक रूप से परिग्रह का विरमण करके महान् परिग्रही न होने के लिए जो प्रतिज्ञा की जाती है, उसका नाम इच्छापरिमाण व्रत है। इस व्रत को स्वीकार करने के लिए, पदार्थों की मर्यादा की जाती है। कुछ पदार्थों के सिवा शेष पदार्थों की ओर से अपनी इच्छा को रोक लेना ही इच्छापरिमाण व्रत है।

अब देखना है कि इस व्रत को स्वीकार करने वाला किन-किन पदार्थों के विषय में मर्यादा करता है। इसके लिए शास्त्रकारों ने

परिग्रह के दो भेद कर दिये हैं, सचित्त परिग्रह और अचित्त परिग्रह। सचित्त परिग्रह उस सांसारिक पदार्थ या पदार्थों का नाम है, जिसके भीतर जान है। जैसे मनुष्य पशु पक्षी पृथ्वी वनस्पति आदि। इसमें कुटुम्ब के लोग, दास दासी, हाथी घोड़े गाय बैल भैंस आदि पशु, कीर मोर चकोर आदि पक्षी, किसी और प्रकार के जीव, भूमि नदी तालाब वृक्ष अन्न आदि वे सभी प्रकार की वस्तुएँ आ जाती हैं, जिन में जीव है। जो पदार्थ इस भेद में आने से शेष रह जाते हैं, यानी जो जानदार नहीं हैं, उनकी गणना अचित्त परिग्रह में है। सोना चाँदी वस्त्र पात्र औषध भेषज घर हाट नोहरा बरतन आदि समस्त पदार्थ, जो निर्जीव हैं, अचित्त परिग्रह में है।

संसार मे जितने भी पदार्थ हैं, वे या तो सचित्त हैं, या अचित्त हैं। इन दोनों भेदों में सभी पदार्थ आ जाते हैं। इसलिए इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला, संसार के समस्त पदार्थों के विषय में यह नियम करता है कि मैं अमुक पदार्थ इस परिमाण से अधिक अपने अधिकार में न रक्खूँगा, अथवा अमुक पदार्थ अपने अधिकार में रक्खूँगा ही नहीं, और इस परिमाण से अधिक की इच्छा भी न करूँगा।

जन साधारण की सुविधा के लिए शास्त्रकारो ने, सचित्त और अचित्त परिग्रह को नव भागों मे विभक्त कर दिया है। वे नव भेद, 'नव प्रकार का परिग्रह' नाम से विख्यात हैं। उनके नाम ये हैं— (१) क्षेत्र (खेत आदि भूमि) (२) वस्तु (निवास योग्य स्थान) (३) हिरण्य (चाँदी) (४) सुवर्ण (सोना) (५) धन (सोने चाँदी के ढले हुए सिक्के, अथवा घी गुड शक्कर आदि मूल्यवान पदार्थ) (६) धान्य (गेहूँ चावल तिल आदि) (७) द्विपद (जिनके दो पाँव हों, जैसे मनुष्य और पक्षी) (८) चौपद (जिनके चार पाँव हों, जैसे हाथी घोड़े गाय बैल भैंस बकरी आदि) और (९) कुप्य [illegible] पात्र औषध आसन

आदि)। इन नव भेदों में, सचित्त और अचित्त, अथवा जड़ और चेतन अथवा स्थावर और जंगम वे सभी पदार्थ आ जाते हैं, जिनसे मनुष्य को ममत्व होता है, अथवा मनुष्य जिनकी इच्छा करता है। क्षेत्र से मतलब उत्पादक खुली भूमि से है। इसलिए क्षेत्र में, खेत, बाग पहाड़ खदान चरागाह जंगल आदि समस्त भूमि आ जाती है। यह व्रत स्वीकार करने वाले को क्षेत्र के विषय मे मर्यादा करना चाहिए कि मैं इतनी भूमि—खेत बाग पहाड़ या गोचर भूमि आदि से अधिक अपने अधिकार में भी नहीं रक्खूँगा, न इससे अधिक की इच्छा ही करूँगा।

दूसरा भेद वास्तु है। वास्तु का अर्थ है गृह। जमीन के भीतर या ऊपर या भीतर ऊपर बने हुए घरो के विषय मे भी परिमाण करना कि मैं इतने गृह—जो इतने से अधिक लम्बे चौड़े और ऊँचे न होंगे, तथा जिनका मूल्य इतने से अधिक न होगा—से अधिक गृह अपने अधिकार मे न रक्खूँगा और न अधिक की इच्छा ही करूँगा। धन से मतलब सिक्का और अन्य मूल्यवान् वस्तुएँ मणि माणिक गुड़ घी शक्कर आदि—हैं। इनके विषय में भी परिमाण करना कि मैं ये सब या इनमे अमुक-अमुक वस्तु इतने परिमाण और इतने मूल्य से अधिक की न रक्खूँगा, न इच्छा ही करूँगा। धान्य से मतलब अन्नादि है; जैसे धान चावल गेहूँ चना तुवर तिल आदि। इन सब के लिए भी मर्यादा करना कि मैं धान्य में से अमुक धान्य इतने परिमाण से या इतने मूल्य से अधिक का अपने अधिकार में न रक्खूँगा, न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा। हिरण्य से मतलब चाँदी है। चाँदी के विषय में भी यह परिमाण करना कि मैं चाँदी अथवा चाँदी की वस्तुएँ इतने परिमाण से अधिक न रक्खूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा। इसी प्रकार सोने के विषय में भी परिमाण करना, कि इस परिमाण से अधिक सोना या सोने से बनी हुई वस्तुएँ न रक्खूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा।

इन सब की ही तरह द्विपद की भी मर्यादा करना। द्विपद में अपनी स्त्री, अपने पुत्र और अन्य सम्बन्धी भी आजाते हैं, तथा दास दासी नौकर चाकर आदि भी आजाते हैं। साथ ही मयूर हंस कीर मोर चकोर आदि पक्षी भी आ जाते है। मतलब यह कि जिनके दो पाँव हैं, उन मनुष्यों अथवा पक्षियों के विषय में भी यह मर्यादा करना कि मैं इतने से अधिक न रखूँगा, न अधिक की इच्छा ही करूँगा। इसी प्रकार चतुष्पद के लिए भी परिमाण करना। चतुष्पद से मतलब उन जीवों से है, जिनके चार पांव होते हैं, और जो पशु कहलाते हैं। पशुओं के विषय में भी यह मर्यादा करना कि इतने हाथी घोड़े ऊंट गाय बैल भैंस खच्चर गधे भेड़ बकरी हरिण सिंह आदि से अधिक न तो रखूँगा और न अधिक की इच्छा ही करूंगा।

इन आठ भेदों में आने से जो पदार्थ शेष रह जाते हैं, उनकी गणना कुप्य में है। जिनकी इच्छा होती है या हो सकती है, और जो गृहस्थी में काम आते हैं या आ सकते हैं, उन सब पदार्थों का भी परिमाण करना। कुप्य का अर्थ साधारणतया गृहस्थी का फैलाव (घर बाखरा, अर्थात् घर में जो छोटी बड़ी चीजें होती हैं) किया जाता है। इसलिए इसका भी परिमाण करना कि मैं इतने से अधिक का बाखरा न रखूँगा, न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा।

इस प्रकार समस्त वस्तुओं के विषय में यह मर्यादा करना, कि मैं इतने परिमाण से अधिक कोई वस्तु न तो अपने अधिकार में रखूँगा ही, न इतने से अधिक की इच्छा ही करूँगा, इच्छा-परिमाण या परिग्रह-परिमाण व्रत कहलाता है। जो परिग्रह से सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकते, उन गृहस्थों को यह व्रत तो स्वीकार करना ही चाहिए। इस व्रत को स्वीकार करने से उनके गृहस्थ-जीवन में किसी प्रकार की कठिनाई भी नहीं आती और अनन्त इच्छा भी नहीं रहती। इस

व्रत को स्वीकार करनेवाला, महा परिग्रही नहीं कहलाता, किन्तु अल्प परिग्रही कहलाता है। इस कारण यह व्रत स्वीकार करनेवाले की गणना धार्मिक लोगों मे होती है। वह व्यक्ति धर्मात्मा बन जाता है। ऐसा व्यक्ति महान् पाप से बच कर मोक्ष-मार्ग का पथिक होता है।

यों तो परिग्रह से सर्वथा मुक्त होना ही श्रेयस्कर है, भगवान् महावीर का उपदेश भी यही है, लेकिन जो लोग परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, फिर भी भगवान् के उपदेश पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करते हैं, उनको भी लाभ ही होता है।

जहाँ तक हो सके वहाँ तक तो भगवान् महावीर के उपदेशानुसार समस्त पदार्थों को त्याग कर अपरिग्रही होना ही अच्छा है। आत्मा का पूर्ण कल्याण तो इसी मे है। फिर भी यदि परिग्रह को सर्वथा नहीं त्याग सकते, तो महापरिग्रही तो न रहो। महा परिग्रह तो त्याग दो! ऐसा करने वाला, साधु नहीं तो श्रावक तो होगा ही, और मोक्ष का पथिक भी कहलावेगा। सांसारिक-पदार्थ रूपी टुकड़ों से जितना भी ममत्व है, प्रत्येक दृष्टि से उतनी ही हानि भी है। सांसारिक पदार्थ, मोक्ष के अनन्त सुख से तो वंचित रखते ही हैं, साथ ही उनके कारण इसलोक में भी अनेक प्रकार की चिन्ता, अनेक प्रकार के दुःख और सब प्रकार के पाप होते हैं। इसलिए सांसारिक पदार्थों को जितना भी त्यागा जा सके, त्यागना चाहिए।

इच्छापरिमाण व्रत को, तीन करण तीन योगों में से जिस तरह भी इच्छा हो, स्वीकार किया जा सकता है और द्रव्य क्षेत्र काल भाव की भी जैसी चाहे वैसी मर्यादा की जा सकती है। फिर भी यह व्रत इच्छा को मर्यादित करने का है, और इच्छा का उद्गम स्थल मन है, इसलिए इस व्रत को एक करण तीन योग से स्वीकार करना ही ठीक है। इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के विषय में भी

मर्यादा करनी चाहिए, कि मैं द्रव्य से अमुक अमुक वस्तु के सिवा अधिक इच्छा न करूँगा, न इनके सिवा और वस्तु अपने अधिकार मे ही रखूँगा। क्षेत्र से, अमुक क्षेत्र से बाहर की वस्तु की इच्छा भी नहीं करूँगा, न अमुक क्षेत्र से बाहर की कोई वस्तु मर्यादा में ही रखूँगा। काल के विषय में भी मर्यादा करना, कि मै इतने दिन मास वर्ष या जीवन भर इन-इन चीजों से अधिक की न तो इच्छा ही करूँगा, न अपने अधिकार में ही रखूँगा। इसी प्रकार भाव की भी मर्यादा करना उचित है।

जो परिग्रह को दुख तथा बन्धन का कारण मानता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है। लेकिन जो ऐसा मानता तो है फिर भी स्वयं को सम्पूर्ण परिग्रह त्यागने में असमर्थ देखता है, वह इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करता है। जो परिग्रह को दुःख तथा बन्धन का कारण मान कर इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करता है वह विस्तीर्ण मर्यादा नहीं रखता, किन्तु सकुचित मर्यादा रखता है। क्योकि उसका ध्येय परिग्रह को सर्वथा त्यागना होता है और इस ध्येय तक तभी पहुँचा जा सकता है जबकि ममत्व को अधिक से अधिक घटाया जाय।

इच्छापरिमाण व्रत का उद्देश्य ममत्व को घटाना है, इसलिए मर्यादा अधिक से अधिक संकुचित रखनी चाहिए। विस्तीर्ण मर्यादा रखना ठीक नहीं। मर्यादा जितनी सकुचित होगी, दुःख और संसार-भ्रमण भी उतना ही संकुचित हो जावेगा, तथा मर्यादा जितनी विस्तीर्ण होगी दुःख और जन्म-मरण भी उतना अधिक रहेगा। इसलिए यथा शक्ति मर्यादा को अधिक से अधिक संकुचित रखना चाहिए, और ऐसा करने के लिए यह ध्यान मे रखना चाहिए कि अधिक परिग्रह अधिक दुःख का कारण है, तथा अल्प परिग्रह अल्प दुःख का कारण है, लेकिन परिग्रह है दुःख का ही कारण और इससे जो जितना निवृत्त होता है, उतना ही वह दुःख-मुक्त होता है।

इस व्रत को स्वीकार करने में सांसारिक पदार्थों का जितना भी त्याग किया जा सके, मर्यादा जितनी कम की जा सके और इच्छा को जितना घटाया जा सके, उतना ही अच्छा है। यह न हो कि सीमा पहले ही बहुत बढ़ा कर रक्खी जावे। उदाहरण के लिए पास मे सम्पत्ति तो केवल पाँच ही रुपये हैं, और व्रत में लाख रुपये की मर्यादा करता है। यद्यपि लाख रुपये से अधिक की इच्छा का त्याग तो अच्छा ही है, फिर भी ऐसा करने से लाख रुपयों की चाह रहती ही है। इसलिए ऐसा करना वर्तमान मे तृष्णा को रोकना नहीं है। किन्तु यही कहा जा सकता है कि वर्तमान मे तो तृष्णा बढ़ी हुई है, परन्तु तृष्णा को सीमित करने का इच्छुक अवश्य है। इस प्रकार का व्रत, विशेष प्रशंसनीय और प्रशस्त नही कहा जा सकता। प्रशंसनीय और प्रशस्त तो वही व्रत है, जिसमें इच्छा को इतना सीमित किया जावे, जिससे अधिक सीमित करने पर गार्हस्थ्य जीवन निभ ही नहीं सकता।

इस व्रत से यथेष्ट लाभ उठाने के लिए आवश्यक है प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा करना और जहाँ तक हो सके मर्यादा की सीमा बहुत संकुचित रखना। हो सके तो जो पदार्थ पास हैं, उनमें से भी कुछ त्याग कर फिर मर्यादा करना चाहिए। ऐसा न हो सके, तो जो पदार्थ पास हैं उनसे अधिक की मर्यादा न करना। पास तो बहुत कम है और मर्यादा बहुत अधिक की करें, यह ठीक नहीं है। इस विषय मे, आनन्दादि श्रावक का व्रत स्वीकार करना आदर्श स्वरूप है। आनंद श्रावक ने उतनी ही सम्पत्ति की मर्यादा की जितनी उसके पास थी। उससे अधिक की मर्यादा नहीं की थी।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने से, इहलौकिक और पारलौकिक अनेक लाभ है। इच्छा या तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता। जैसे आग मे घी डालने से आग और प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार

पदार्थों के मिलने से इच्छा और बढ़ती ही जाती है, कम नहीं होती। इस प्रकार की बढी हुई इच्छा के कारण मनुष्य का जीवन भारभूत एवं कष्टप्रद बन जाता है। ऐसा आदमी न तो शान्ति से खा पी या सो सकता है, न ईश्वर-भजनादि आत्म-कल्याण के कार्य ही कर सकता है। उसको प्रत्येक समय अपनी बढ़ी हुई इच्छा की पूर्ति की ही चिन्ता रहती है। कोई भी समय ऐसा नहीं होता कि जब उसे शान्ति मिले। उसके पास कितनी भी सम्पत्ति हो जाय उसको संसार के समस्त पदार्थ मिल जावे, तब भी अशान्ति बनी ही रहती है। इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार कर लेने पर, इस प्रकार की अशान्ति मिट जाती है और गार्हस्थ्य जीवन महान् दुःखमय नहीं रहता। अपितु सुखमय हो जाता है।

परिग्रह समस्त दुःख और जन्ममरण का कारण है। उन दुःखो से बचने और जन्ममरण से छूटने के लिए ही अपरिग्रह व्रत या परिग्रह-परिमाण व्रत स्वीकार किया जाता है। अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला जन्म-मरण से प्रायः सर्वथा छूट जाता है। वह न तो फिर जन्मता ही है न मरता ही है, और न उसे किसी प्रकार का कष्ट ही होता है। यदि उसमे अपनी इच्छा का सर्वथा निरोध कर लिया है और पूर्वोपात्त कर्मक्षय कर दिये हैं तब तो उसी भव मे मुक्त हो जाता है, अन्यथा एक या दो भव में मुक्त हो जाता है। जो परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, फिर भी यदि उसने किसी अंश मे परिग्रह का त्याग किया है और इच्छा को कम कर लिया है, तो उतने अंश मे वह भी कष्ट से छूट जाता है, नीच गति में जन्म लेने से बच जाता है, तथा मोक्ष मार्ग का पथिक हो जाता है। जिसने परिग्रह का परिमाण कर लिया है, सांसारिक पदार्थों को सर्वथा न त्याग सकने पर भी उनमें लिप्त नहीं रहता, किन्तु जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है, वह कभी-कभी तो भ[illegible] चारित्र पाकर उसी

भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता, और कभी-कभी सात आठ भव के अन्तर से मुक्त होता है। उसको अव्रत की क्रिया नहीं लगती, इस कारण वह नरक तिर्यक् गति में नहीं जाता।

मोक्ष प्राप्ति अप्राप्ति का कारण सांसारिक पदार्थों का पास में होना या न होना नहीं है, किन्तु ममत्व का होना या न होना ही है। इसलिए चाहे परिग्रह का सर्वथा त्याग न हो केवल इच्छापरिमाण व्रत ही लिया गया हो, फिर भी यदि शेष परिग्रह में जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है, तो वह उसी भव में मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। इस के विरुद्ध चाहे अपरिग्रह व्रत स्वीकार भी किया हो, पर इच्छा मूर्छा न मिटी हो, तो वह संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण करता है और नरक तिर्यक् गति में भी जाता है।

पहले यह बताया जा चुका है कि इच्छा अनन्त है, उसका अन्त नहीं है। जिसमें ऐसी इच्छा विद्यमान है, उसके परिग्रह का भी अन्त नहीं है। ऐसा व्यक्ति महान् परिग्रही है। उसे महान् परिग्रह की ही क्रिया लगती है। उसके पास परिग्रह सम्बन्धी पूर्ण पाप विद्यमान है। इच्छा परिमाण व्रत द्वारा, ऐसे महान् परिग्रह से निकला जाता है। जब इच्छा की सीमा कर दी गई उसका अन्त मालूम हो गया, तब महान् परिग्रह भी नहीं रहा। फिर तो जितने अंश में इच्छा शेष है, उतने ही अंश मे परिग्रह भी शेष रहा है और शेष अंश से परे के परिग्रह से निवृत्त हो जाता है। इस कारण फिर परिग्रह की पूर्ण क्रिया नहीं लगती, किन्तु जितने अंश में परिग्रह रहा है, उसी को क्रिया लगती है। इच्छा की सीमा हो जाने पर महान् परिग्रह नहीं रहता, किन्तु सीमित अर्थात् अल्प परिग्रह ही रहता है।

इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करने वाला, अप्राप्त वस्तु के लिए चिन्ता नहीं करता, न इस कारण उसे दुःख ही होता है। भले उसके जानने में नूतन से नूतन पदार्थ आवें, फिर भी वह उन पदार्थों की इच्छा नहीं करता, उनको प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता, न उनके मिलने पर दुःख ही करता है। यदि व्रत में रखी हुई मर्यादा के बाहर का कोई पदार्थ उसे बिना इच्छा या श्रम के भी प्राप्त होता हो, तो उसको भी वह स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार वह किसी वस्तु की इच्छा से दुःखी नहीं रहता, किन्तु इस ओर से सर्वथा दुःखरहित हो जाता है। साथ ही यह व्रत स्वीकार करने वाला व्यक्ति त्याग से बचे हुए पदार्थों के प्रति ऐसा ममत्वभाव नहीं रखता, कि जिसके कारण उन पदार्थों के छूटने पर दुःख हो। वह सांसारिक पदार्थों का आधार उसी प्रकार लेता है, जिस प्रकार पक्षी वृक्ष का सहारा लेता है। वृक्ष का सहारा बन्दर भी लेता है और पक्षी भी लेता है, लेकिन दोनों के सहारा लेने में अन्तर होता है। वृक्ष पर बैठा होने पर भी पक्षी वृक्ष के सहारे नहीं रहता, किन्तु अपने पंखों के सहारे रहता है; परन्तु बन्दर के लिए—यदि वह वृक्ष पर बैठा हो—वृक्ष ही आधार है। इस कारण वृक्ष के गिरने पर पक्षी को कष्ट नहीं हो सकता, वह अपने पखों की सहायता से उड़ जावेगा, लेकिन बन्दर उसी वृक्ष के नीचे दब सकता है।

इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करने वाले और न करने वाले में भी ऐसा ही अन्तर होता है। इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करने वाला सासारिक पदार्थों से ऐसा ममत्व नहीं करता, उनका इस प्रकार सहारा नहीं लेता, जैसा सहारा बन्दर वृक्ष का लेता है। सांसारिक पदार्थों के छूटने पर, उसे किंचित् भी दुःख नहीं होता। वह सांसारिक पदार्थों का उपयोग उसी तरह करता है, जिस प्रकार पक्षी वृक्ष का उपयोग करता है।

इस व्रत को न अपनाने पर अप्राप्त वस्तु के कारण भी दुःख होता है, और प्राप्त वस्तु के कारण भी। अप्राप्त वस्तु के लिए मनुष्य सदा तरसता रहता है, चिन्तित तथा दुःखी रहता है, और प्राप्त वस्तु की रक्षा के लिये चिन्तित एवं भयभीत रहता है। इस बात का भय बना ही रहता है, कि यह वस्तु मुझ से कोई छीन न ले, या छूट न जावे। परिग्रहपरिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस प्रकार की अधिकांश चिन्ता तथा अधिकांश दुःख मिट जाता है। वह व्यक्ति वस्तु की रक्षा की ओर से चिन्तित भी नही रहता, तथा वस्तु के जाने से दुःखी भी नही होता। वह जानता है कि वस्तु का यह स्वभाव ही है। जब तक मेरे पुण्य का जोर है, तभी तक वस्तु मेरे पास रह सकती है, उस दशा मे इसे कोई नहीं ले जा सकता और पुण्य का जोर हटने पर वस्तु मेरे पास नहीं रह सकती। चाहे मैं लाखो प्रयत्न या दुःख करूँ समय आने पर वस्तु चली ही जाती है। फिर मैं चिन्ता या दुःख क्यो करूँ!

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाले को मरण के समय भी दुःख नहीं होता। इच्छा का परिमाण न करनेवाले महा-परिग्रही को मरण समय मे भी घोर कष्ट होता है। 'हाय! मेरी प्रिय सम्पत्ति आज छूट रही है' इस दुःख के कारण उसके प्राण शान्ति से नहीं निकलते, किन्तु बड़े कष्ट से निकलते हैं। जिसने भारत को बड़ी बुरी तरह लूटा था, वह महमूद गजनवी जब मरने लगा, तब उसने अपनी सारी सम्पत्ति अपने सामने मँगवाई, और उस सम्पत्ति को देख देख कर वह रोने लगा। उसके रोने का वास्तविक कारण क्या था, यह निश्चय-पूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु हो सकता है, कि वह सम्पत्ति छूटने के दुःख से रोया हो। महापरिग्रही को ऐसा दुःख होता ही है। उसे, मरते समय आर्त्त रौद्र ध्यान आता है, जो दुर्गति का कारण है। इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करने वाला, इससे बचा

श्रावक के लिए परिग्रह परिमाण व्रत स्वीकार करना आवश्यक है। वह जब तक अपनी इच्छा को सीमित नहीं कर लेता, तब तक निर्ग्रन्थ प्रवचन पर प्रगाढ़ आन्तरिक रुचि नहीं ला सकता और महा-परिग्रही है। उस में निर्ग्रन्थ धर्म का लेश भी नहीं हो सकता। निर्ग्रन्थ धर्म का पात्र बनने के लिए इच्छा-परिमाण व्रत स्वीकार करना आवश्यक है।

इच्छा-परिमाण व्रत स्वीकार कर लेने पर, धर्म-कार्य में भी मन लगता है। मन में वैसी चंचलता और अस्थिरता नहीं रहती, जैसी चंचलता और अस्थिरता अनन्त इच्छा वाले में रहती है। जिसने अपनी इच्छा को जितना अधिक संकोच लिया है, उसका मन धर्म-कार्य में उतना ही अधिक लगता है। वह निष्काम भाव से धर्म-कार्य करता है, धर्म-कार्य के बदले में चाहता कुछ नहीं है। इसके लिए पूनिया श्रावक की कथा प्रसिद्ध ही है, जो केवल बारह आने की पूँजी से व्यापार व्यवसाय करता था, और जिसकी सामायिक की प्रशंसा स्वयं महावीर भगवान् ने की थी।

इच्छा का परिमाण करके भी, यथाशक्ति उन पदार्थों से निर्म-मत्व ही रहना चाहिए, जो पदार्थ मर्यादा में रखे गये हैं। मर्यादा में रखे गये पदार्थों में वृद्धि न होनी चाहिये। यदि मर्यादा में रहे हुए पदार्थों में वृद्धि न रही, उनसे निर्ममत्व रहे, तो पदार्थों का सर्वथा त्याग न कर सकने पर भी, वह व्यक्ति एक प्रकार से अपरिग्रही के समान ही माना जावेगा और उसको बहुत अंश में लाभ भी वैसा ही होगा। भरत चक्रवर्ती छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी थे। लेकिन वे उस राज्य-सम्पदा के प्रति निर्ममत्व रहते थे, इस कारण उन्हे कांच-महल में ही केवलज्ञान हो गया। नेमीराज के पास समस्त राज्य-सम्पदा विद्यमान थी और वे राज्य भी करते थे, फिर भी 'राजर्षि' कहे जाते थे। इसका

कारण यही था कि वे राज्य मे मूर्छित नहीं रहते थे। नेमीराज की ही तरह राजा जनक के विषय में भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि उनके पास शुकदेवजी ज्ञान सीखने के लिए गये। उन्होंने जनक के द्वार पर जाकर, अपने आने की सूचना जनक के पास भेजी, जिसके उत्तर मे राजा ने, उन्हे द्वार पर ही ठहरे रहने का कहलाया। शुकदेवजी तीन दिन तक जनक के द्वार पर ही ठहरे रहे। चौथे दिन जनक ने उन्हे अपने पास बुलाया। राजा जनक के सन्मुख जाकर शुकदेवजी ने जाकर देखा, कि राजा अच्छे सिंहासन पर बैठा है और उस पर चँवर छत्र हो रहा है। शुकदेवजी सोचने लगे कि पिता ने मुझे इसके पास क्या ज्ञान सीखने भेजा है! यह माया मे फँसा हुआ राजा मुझ को क्या ज्ञान देगा! शुकदेवजी इस प्रकार सोच ही रहे थे, इतने ही में राजा के पास खबर आई, कि नगर मे आग लग गई है, और नगर जल रहा है। फिर खबर आई कि आग महल तक आ गई है। तीसरी बार खबर आई, कि आग ने महल का द्वार घेर लिया है। राजा जनक, इन सब खबरो को सुनकर किंचित् भी नहीं घबराये, किन्तु वैसे ही प्रसन्न बने रहे; लेकिन शुकदेवजी चिन्तित हो गये। राजा ने उनसे पूछा कि—नगर या महल में आग लगने से आपको चिन्ता क्यों हो गई? शुकदेवजी ने उत्तर दिया, कि—मेरा दण्ड और कमण्डल द्वार पर ही रखा है; मुझे उन्हीं की चिन्ता है, कि कहीं वे न जल जावे। राजा ने उत्तर दिया, कि मुझको महल और नगर जलने की भी चिन्ता नहीं है, न दु:ख ही है, और आपको दण्ड और कमण्डल की ही चिन्ता हो गई! इस अन्तर का क्या कारण है? यही कि मैं राज्य करता हुआ और नगर तथा महल मे रहता हुआ भी इनसे निर्ममत्व रहता हूँ, इनको अपना नहीं मानता, और आप दण्ड कमण्डल को अपना मानते है। आपको आपके पिता ने मेरे पास यही ज्ञान लेने के लिये भेजा है, कि जिस प्रकार मैं निर्ममत्व रहता हूँ, उसी प्रकार निर्ममत्व रहो। ससार के किसी भी पदार्थ को अपना

मत समझो, न किसी पदार्थ से अपना स्थायी सम्बन्ध मानो, किन्तु यह मानो कि आत्मा अजर अमर तथा अविनाशी है और संसार के समस्त पदार्थ हैं नाशवान । इसलिए आत्मा का सांसारिक पदार्थों से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

शास्त्र में, नमीराज विषयक वर्णन भी ऐसा ही है, नमीराज को जब संसार की असारता का ज्ञान हो गया था और वे विरक्त हो गये थे, उस समय उनकी परीक्षा करने के लिए इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश बनाकर उनसे कहा था, कि वह देखो तुम्हारी मिथिलानगरी जल रही है। तब नमीराज ने उत्तर दिया था—

सुहं वसामो जीवामो जेसिं मे नत्थि किंचणं ।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचणं ॥

अर्थात्—मैं सुख से रहता हूँ और सुखपूर्वक ही जीवित हूँ, महल और मिथिलानगरी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मिथिलानगरी के जलने से मेरा कुछ भी नहीं जलता है।

तात्पर्य यह कि मर्यादा में रहे हुए पदार्थों से भी ममत्व न करना, किन्तु निर्ममत्व रहना। उनकी प्राप्ति से प्रसन्न न होना, न उनके वियोग से दुःख करना।

निर्ममत्व रहने के साथ ही कृपण भी न रहना। चाहे कृपण हो या उदार, सांसारिक पदार्थ निश्चय ही छूटते हैं; लेकिन उस समय में जैसा दुःख कृपण को होता है, वैसा उदार को नहीं होता।

श्रावक अपने व्रत की मर्यादा में जो द्रव्य शेष रखता है, उसे केवल अपने ही सुख के लिए नहीं समझता, उसे अपना ही नहीं मान बैठता। यह नहीं करता कि दूसरे [illegible] चाहे उस वस्तु के

लोग भूखे प्यासे रहें और श्रावक उस वस्तु को दबाये बैठा रहे। श्रावक अपनी मर्यादा में जो धन धान्यादि रखता है, उससे स्वयं भी सांसारिक कार्य चलाता है और दूसरों की भी सहायता करता है। उसके पास जो धन-धान्य होता है, उसे वह आवश्यकता के समय जनता के हित में खर्च कर देता है। दुष्कालादि के समय, उसके द्वारा लोगों की रक्षा करता है। लोगों की सहायता करता है।

जो धन मर्यादा में रखा है, उसे पकड़ कर बैठ जाना व्यावहारिक दृष्टि से भी अनुचित है। अर्थात् उसे जमीन में गाड़ देना या तिजोरी में बन्द करके रख छोड़ना, ठीक नहीं। जब सम्पत्ति एक ही जगह केन्द्रित होकर रुक जाती है, व्यवहार में नहीं आती, तब साधारण जनता को महंगाई का सामना करना पड़ता है। इसलिए 'धन सम्पत्ति तो हमारी मर्यादा में ही है' ऐसा समझ कर सम्पत्ति को व्यवहार में सीमित रखना, जनता को कष्ट में डालता है। भारत में गेंद के खेल का जो प्रचार है, उससे एक शिक्षा भी मिलती है। गेंद होता तो है किसी एक व्यक्ति का ही, परन्तु उसे खेलते अनेक आदमी हैं। अनेक आदमी मिलकर, परस्पर [illegible] प्रदान

करते रहोगे, तो जिस प्रकार फेंका हुआ गेंद लौट कर फेंकनेवाले के ही पास आता है, उसी तरह दूसरे को देते रहने पर—यानी त्याग करने ही पर—सम्पत्ति भी लौट-लौट कर त्यागने वाले के ही पास आवेगी। सम्पत्ति के लिए झगड़ा भी तभी होता है, जब कोई उसे अपनी मान कर पकड़ बैठता है। जहाँ किसी वस्तु को अपना नहीं माना जाता, वहाँ किसी प्रकार का झगड़ा भी नहीं होता।

जिस तरह मर्यादा में रखी हुई प्राप्त वस्तु के प्रति कृपणता अथवा ममत्व न रखना, उसी तरह मर्यादा में रखी हुई अप्राप्त वस्तु की कामना भी न करना; किन्तु निष्काम रहना। कामना से वस्तु प्राप्त भी नहीं होती और, यदि प्राप्त हुई भी, तो उससे आध्यात्मिक तथा मानसिक हानि होती है। वस्तु की कमी वही है, जहाँ कामना है। जहाँ कामना नहीं है, वहाँ वस्तु की भी कमी नहीं है। कामना न होने पर वस्तु छाया की तरह, पीछे दौड़ती है, और कामना होने पर दूर भागती है। जैसे कोई आदमी छाया को पकड़ने के लिए छाया की ओर दौड़े, तो छाया आगे की ओर भागेगी; लेकिन यदि वह छाया को पकड़ने की इच्छा न करे, छाया की ओर पीठ दे दे, तो वह छाया उस आदमी के पीछे दौड़ेगी। इसी प्रकार वस्तु की चाह करके उसके प्रति उपेक्षा बुद्धि रखे, तो वस्तु दौड़ कर पास आवेगी, और यदि वस्तु की चाह करके उसके पीछे दौड़े तो वस्तु दूर भागेगी। इसलिए मर्यादा में होने पर भी अप्राप्त वस्तु की कामना न करना, किन्तु निष्काम और मर्यादा पर स्थिर रहना। मर्यादा पर स्थिर रहने से, सम्पत्ति स्वयं ही दौड़ कर आवेगी। तुलसी-कृत रामायण में कहा है—

जिमि सरिता सागर मँह जाही, यद्यपि तिन्है कामना नाही।
तिमि धनसम्पति बिनहिं बुलाये, धर्मशील पँह जाहिं सुभाये॥

अर्थात्—जिस प्रकार समुद्र को जल की कामना न होने पर भी सब नदियाँ समुद्र मे ही जाती हैं, उसी प्रकार धनसम्पत्ति भी धर्मशील व्यक्ति के पास बिना बुलाये ही स्वभावतः जाती है।

तात्पर्य यह कि मर्यादा मे रही हुई परन्तु अप्राप्त वस्तु की कामना न करना, न उसके लिए धर्म की सीमा का उल्लंघन ही करना चाहिए।

यह व्रत स्वीकार करनेवाला उन कार्यों को कभी नहीं करता, जिनका शास्त्र मे निषेध किया गया है। शास्त्र में श्रावक के लिए वर्ज्य पन्द्रह कर्मादानों में जो कार्य बताये गये हैं, इच्छापरिमाण व्रत स्वीकार करनेवाले उन कामों को नहीं करते। जिसने इच्छा की सीमा नहीं की है, वह कृत्याकृत्य का विचार नहीं रखता। उसका उद्देश्य तो केवल यह रहता है कि मेरी इच्छानुसार पदार्थ मिले; फिर इसके लिए कुछ भी क्यों न करना पड़े। लेकिन जिसने इस व्रत को स्वीकार किया है, वह कृत्याकृत्य का ध्यान रखता है और अकृत्य कार्य कदापि नहीं करता।

मतलब यह कि यह व्रत स्वीकार करनेवाला अनेक अंशों में सुखी तथा पाप से बचा रहता है और उसके द्वारा धर्म-कार्य एवं शुभ-कार्य भी होते हैं। अशुभ कार्यों से प्रायः वह अलग हो जाता है।

अपरिग्रह व्रत या इच्छापरिमाण व्रत का पालन वही कर सकता है, जो समस्त पदार्थों को तात्त्विक दृष्टि से देखता है, जिसने सादगी स्वीकार की है और लालसा को मिटा दिया है या कम कर दिया है। इच्छापरिमाण व्रत का पालन करने के लिए सादगी का होना आवश्यक है। जिसमें सादगी होगी, वही इच्छा-परिमाण-व्रत का पालन कर सकता है। सादगी न होने पर वस्तु की चाह होगी ही

और इस कारण कभी न कभी व्रत भी भंग हो जावेगा। सादगी, अनशनादि तप से भी कठिन है। बहुत से लोग अनशन तप तो कर डालते है, लेकिन उनके लिए सादगी स्वीकार करना कठिन जान पड़ता है। परन्तु जब तक सादगी नहीं है, तब तक न तो अपरिग्रह व्रत का ही पालन हो सकता है, न परिग्रह-परिमाण व्रत का ही। इस व्रत का पालन तभी हो सकता है, जब अपनी आवश्यकताओं को बिल्कुल घटा दिया जावे।

सादगी की ही तरह सरलता का होना भी आवश्यक है। जिसमें सरलता नहीं है, वह भी व्रत का पालन नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति, अपनी बुद्धि का उपयोग व्रत में गली निकालने में ही करता है। वह आदमी व्रत में भी कपट चलाता है।

व्रत स्वीकार करके फिर उसमें कपट चलाने या गली निकालने से व्रत का महत्व नष्ट हो जाता है। बहुत से लोग व्रत लेते समय यह सोचते हैं कि हम जितनी मर्यादा कर रहे हैं, हमको उतना ही मिलना कठिन है, तो अधिक तो मिल ही कैसे सकता है! इस तरह सोच करके पहले ही–जो पास है उससे—बहुत अधिक की मर्यादा करते हैं, परन्तु योगायोग से जब मर्यादा इतना धन हो जाता है और उससे भी बढ़ने लगता है, तब व्रत में कपट चलाने लगते हैं। ऐसे लोग, उस समय अपनी बढ़ी हुई सम्पत्ति को सन्तान या स्त्री के नाम पर कर देते हैं, उनके विवाहादि खर्च खाते में अमानत कर लेते हैं और फिर भी यह समझते हैं, कि हमारे व्रत में कोई दूषण नहीं लगा है। लेकिन वस्तुतः ऐसा करना, व्रत में कपट चलाना और व्रत को भंग करना है। क्योंकि व्रत लेते समय इस प्रकार की मर्यादा नहीं की थी।

सच्चा व्रतधारी, अपने व्रत से बाहर की कोई भी वस्तु अपने पास न रखेगा, फिर चाहे वह कैसी [illegible]

किया जाता हो, मुनाफा न लिया जाता हो, अथवा बहुत कम मुनाफा लिया जाता हो, तो जनता ऐसे दुकानदार को बहुत आदर की दृष्टि से देखे, उसे प्रामाणिक माने और उसकी तथा उसके धर्म की भी प्रशंसा भी करे। हो सकता है, आनन्द भी ऐसा वाणिज्य करता हो। जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि आनन्द के यहाँ कृषि गोपालन और वाणिज्य होता था, फिर भी उसने अपनी सम्पत्ति मर्यादा से अधिक नहीं होने दी थी।

तात्पर्य यह है कि व्रत लेने के पश्चात् व्रत में कपट चलाना और किसी प्रकार का मार्ग निकालना अनुचित है। जिस भावुकता और सरलता से व्रत लिया है, वह भावुकता और सरलता अन्त तक रखनी चाहिये। जो इस रीति से व्रत का पालन करता है, उसी का व्रत निर्दोष, प्रशस्त एवं प्रशंसनीय है।

सम्पत्ति के लिए जीवन मत हारो। जीवन को सम्पत्ति के लिए मत समझो। सम्पत्ति पर, जीवन न्यौछावर मत करो। सम्पत्ति के लिए धर्म को धता मत बताओ, किन्तु यह विचार रखो कि हम धन को बड़ा न मानेंगे, और दोनों में से किसी एक के जाने का समय आने पर, धन चाहे जावे, लेकिन धर्म को कदापि न जाने देंगे। धर्म-रहित सम्पत्ति, नरक का कारण है। ऐसी सम्पत्ति, दुर्गति में ही ले जाती है। इसलिए धर्मरहित धन को अपने यहाँ कदापि न रहने दो।

जीव को संसार में फँसाने के लिए, दारेषणा, पुत्रेषणा और धनेषणा जाल रूप हैं। जो इस जाल से बचा रहता है, उसी का कल्याण होता है।

अतिचार ।

इच्छा-परिमाण-व्रत के पाँच अतिचार बताये गये है । ये पाँचों, अतिचार जानने योग्य है, आचरण योग्य नहीं है । व्रत की मर्यादा चार प्रकार से टूटती है, अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार और अनाचार से । अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अतिचार मे व्रत का आंशिक भंग होता है, और अनाचार मे व्रत पूरी तरह टूट जाता है । अतिचार, व्रत का बड़ा दूषण है, इसलिए खास तौर से इससे बचना चाहिए । ऐसा करने पर ही व्रत दूषण-रहित रह सकता है ।

इच्छापरिमाण व्रत के पाँच अतिचार ये है—क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम, हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम, धनधान्य प्रमाणातिक्रम, द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम और कुप्य प्रमाणातिक्रम ।

खेतादि भूमि और गृहादि के विषय में की गई मर्यादा का आंशिक उल्लंघन करना क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार है । यदि मर्यादा को पूर्णतया विचार पूर्वक तोड़ दिया जावे, तब तो वह अनाचार ही है, उससे व्रत बिल्कुल ही टूट जाता है. लेकिन व्रत

अतिचारों की एक व्याख्या यह भी होती है कि ज्ञात पर स्वयं के अधिकार में मर्यादा से अधिक पदार्थों का हो पदार्थ तो मर्यादा से अधिक हो गये है, लेकिन स्वयं को यह . है कि मेरे अधिकार में मर्यादा से अधिक पदार्थ हैं, किन्तु समझता है, कि जो पदार्थ मेरे अधिकार मे है वे मर्यादा मे ही यह अतिचार है। यानी अनजान में मर्यादा से अधिक अपने अधिकार मे होना यह अतिचार है। जब तक इस पता नहीं है, कि मेरे अधिकार में मर्यादा से अधिक पदार्थ ह तक तो उन अधिक पदार्थों का अधिकार मे होना अतिचार लेकिन पता होने पर भी मर्यादा से अधिक पदार्थों को अपने कार मे ही रखना, अनाचार है और अनाचार होने पर व्रत भ जाता है।

संक्षेप मे यह पांचों अतिचारो का स्वरूप हुआ। जो व्यक्ति बच कर व्रत का पालन करता है, उसी का व्रत दूषण रहित है, व्रत लेने का उद्देश्य पूरा करता है, और वही आराधक तथा कल्याण करने वाला है।